पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी!?

(पूजा की संस्कृति-विकृति व फल)

(गद्य-पद्यमय)

सृजेता-आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

स्वैच्छिक अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

बा.ब्र. रोहित जैन के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में

सौ. वैशाली चन्द्र शेखरजी तस्यपुत्र

प्रसन्न, अक्षय पाटनी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

ग्रंथांक-78 कविताओं से संवर्द्धित द्वितीय संस्करण, 2018

प्रतियाँ -500 मूल्य - 125/-

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 08233734502

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

विषयानुक्रमणिका [पद्य]

अ.सं.	विषय	पृ. क्र.
1.	साधु-उपाध्याय-आचार्य भी आंशिक भगवान् (परम परमेष्ठी प्रार्थना)	4
2.	वन्दे! श्री जिनवाणी	5
3.	सरस्वती/जिनवाणी वंदना	6
4.	गुरुदेव से/(की) प्रार्थना	7
5.	सत्य सनातन की प्रार्थना	8
6.	साम्यावस्था प्राप्ति हेतु-प्रयास	9
7.	वन्दे तद्गुण-लब्धये	9
8.	जिन दर्शनः निज दर्शन	11
9.	आत्मदेव एवं नवदेवता की प्रार्थना	12
10.	परमात्म वन्दना	12
11.	विश्वज्ञ-विश्व-उद्धारक-विश्व वन्द्य की स्तुति	13
12.	आध्यात्मिक गुणों की स्तुति	14
13.	गुणगुणी कीर्तन	15
14.	विश्व गुरु की वन्दना	15
15.	करता हूँ वन्दना आत्मज्ञानी	16
16.	आत्मदेव की वन्दना	16
17.	गुणभिनन्दन-गुणी अभिनन्दन	18
18.	जिनेन्द्र-कीर्तन	19
19.	आध्यात्म गुरु चरण वन्दन अभिनन्दन	19
20.	आध्यात्मिक गुरु की वन्दना	20
21.	पूजनीय-पूजा के प्रतीक एवं फल	21
22.	श्री अरिहन्त परमेष्ठी-पूजा	23
23.	स्व-शुद्धात्मा ही परम शरण-मंगल-उत्तम	25
24.	सच्ची श्रद्धा की शक्ति	26
25.	परमागमानुसार स्वशुद्धात्म ध्यानी ही श्रेष्ठ-ज्येष्ठ	27
26.	भगवान् का निश्चय स्वरूप व व्यवहार आदि रूप	28
27.	स्व-परमात्मा का वन्दन-अभिनन्दन स्व-द्वारा श्रमण	30
28.	श्रमण ही निश्चय से रत्नत्रय-10 धर्म-9 देवता	31
29.	समता परमो धर्म-ध्यान व शान्ति	34
30.	भाव विशुद्धि हेत ही करणीय धर्म	36
31.	स्व-शुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारंभ	38
32.	विनय का व्यापक स्वरूप व फल	39
33.	जैन धर्म की विशेषताः आत्मा ही बनता है परमात्मा	40
34.	यथार्थ ज्ञानः अज्ञान निवृत्ति, हित प्राप्ति, अहित परिहार	41
35.	वैयावृत्ति से तीनकाल के सभी तीर्थंकर आदि पूजित होते	42
36.	धर्म वा आध्यात्म में समानता व अन्तर	50
37.	अल्प पाप बन्ध कारक शुभकार्य भी करणीय	51
38.	आगम ज्ञान व शुद्धात्मा भावना बिना मुक्ति नहीं	56
39.	आवश्यकता से अधिक वर्चस्व व प्रसिद्धि हेतु अधिक पाप करते हैं नीच-मानव	57
40.	धर्म परम सत्य-सर्व सुखकर होने पर भी धर्म से घृणदि क्यो?	58
41.	हर धर्मावलम्बी जीवित हैं अन्य धर्मी/(विधर्मी) से	59

साधु-उपाध्याय-आचार्य भी आंशिक भगवान्

(साधु साधना अवस्था व सिद्ध साध्य अवस्था)

(चाल : ऐ! मालिक तेरे वन्दे हम...)

-आचार्य कनकनन्दी

परमेष्ठी पञ्च...तेरे भक्त हम....तेरी भक्ति से...बने भगवन्...
तव ज्ञान करें...तब ध्यान धरें...तव स्वरूप बन जाएँ हम...।
(पञ्च देवता तेरे भक्त हम...) (ध्रुव)

आ...आ...आ...आ...आ...आ...
साधु पाठक सूरी भगवन्...अरिहन्त-सिद्ध परम भगवन्...
परमेष्ठी पाँचों ही...हैं भगवन्...पाँचों देवता-गुरु भगवन्...
आद्य त्रय आंशिक भगवन्...अन्त द्वय परम शुद्ध भगवन्...
(रत्नत्रय धारी पञ्च भगवन्)

तव ज्ञान करे.तव ध्यान धरें... तव स्वरूप बन जाएँ हम...(1)
आ...आ...आ...आ...आ...आ...
पाँचो उत्तम-मंगल व शरण...पाँचों परमेष्ठी में गर्भित...
अंकुर से यथा बने हैं वृक्ष...साधु (पाठक, सूरी) से बनते अर्हन्-सिद्ध...
शिशु से बनता प्रौढ़-वृद्ध...श्रमण ही बनते अर्हन्...सिद्ध...।
(मोक्षमार्गी कृतकृत्य सिद्ध...)

तव ज्ञान करें. तव ध्यान धरें.... तव स्वरूप बन जाएँ हम...(2)
आ...आ...आ...आ...आ...आ...
श्रमण काल में तपते हैं तप...परीषह उपसर्ग करते सहन...
इसी काल में करें ध्यान...अध्ययन...आहार इस काल में आवश्यक...
इसी काल में कष्ट सहन...करते व्रत-नियम पालन...।
(सिद्ध (अरिहन्त) काल में सुख अनन्त)

तव ज्ञान करें. तव ध्यान धरें...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(3)
आ...आ...आ...आ...आ...आ...
अनेकान्त नय-निक्षेप से...साधु ही होते नव देवता...
जीवन्त तीर्थ/(धर्म) स्वरूप साधु...निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग...।
श्रमण परमेष्ठी पञ्चम काल के...जीवन्त परमेष्ठी साक्षात् है...।
(णमो लोए सव्व साहूणम्)

तव ज्ञान करे. तव ध्यान धरें...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(4)
आ...आ...आ...आ...आ...आ...
आत्मिक विकास पञ्च परमेष्ठी...शुद्ध/(शुभ) से शुद्धतर-शुद्धतम...।
अरिहन्त सिद्ध तो साध्य रूप...साधु पाठक सूरी साधन रूप...
साधन बिन न साध्य सिद्धि है...तीनों परमेष्ठी/(गुरु) साधन रूप...।
(पाँचों को वन्दे कनकनन्दी)

तव ज्ञान करे. तव ध्यान धरें...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(5)
णमो लोए सव्व साहूणम्...
णमो लोए सव्व उवज्झायाणम्...
णमो लोए सव्व आयरियाणम्...
णमो लोए सव्व अरिहंताणम्...
णमो लोए सव्व सिद्धाणम्...
(यह कविता धवला एवं जय धवला के आधार पर है।)

ग.पु कॉलोनी सागवाड़ा, दि. 7 जनवरी 2016, रात्रि 11.05 व प्रातः 5.42 बजे।

वन्दे! श्री जिनवाणी

(चालः 1.उड़िया-बंगला..., 2.होठों से छू लो..., 3.हाँ तुम बिल्कुल ऐसे हो...)

-आचार्य कनकनन्दी

जननी...जननी...जननी...(जननी)...वन्दे! श्री जिनवाणी...
सर्वज्ञ द्वारा/(से) निसृत वाणी...गणधर गुन्थित वाणी...जननी...
...(ध्रुवपद)...

सर्वभाषा (मयी) दिव्य वदनी...अनेकान्तमय आपकी वाणी...
आत्मा से परमात्मा बनने की...अमृत निसृत/(निर्गत) वाणी...
सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(1)...

अणु से (लेकर) ब्रह्माण्ड तक...अनादि से अनन्त तक...
जीव से (लेकर) जिनेन्द्र तक..आपके द्वारा सर्व कथित...
सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(2)...

व्यक्ति निर्माण...समाज ज्ञान...विश्व बन्धुत्व (व) शान्ति कथन...
न्याय राजनीति पर्यावरण...तव सत्य-तथ्य कथन...
सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(3)...

अहिंसा-शाकाहार (व) स्वास्थ्य (विज्ञान)...गणित-कला (व) मनोविज्ञान...
भाषा-व्याकरण (व) संगीत ज्ञान...नीति सदाचार मण्डित वदन.../(आध्यात्मिक विज्ञान तेरे द्वारा सभी वर्णन...)
सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(4)...

सर्वभाषा (मयी) सर्वभाषिणी (जननी)...सुभव्य सन्तान (को) अमृतदायिनी...
विश्व उद्धारक हे! जगज्जननी...'कनकनन्दी' की प्रिय/(श्रेय) जननी...
सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(5)...

ग.पु. कॉलोनी सागवाड़ा, दि 30 जनवरी 2016 रात्रि 1.07

''सरस्वती/जिनवाणी वन्दना''

(आगम एवं अध्यात्मनिष्ठ कविता)

वैश्विक सत्य-शान्ति की प्रवक्ता सरस्वती माता की वन्दना

(चाल : 1. उड़िया-बंगला..., 2. बहुरागीय वन्दना/हाँ बिल्कुल ऐसी ...)

जननी! जननी! जननी2 वन्दे शारदे जननी/(हे जिनवाणी)
तीर्थंकर सुता पवित्र गाता, ज्ञान पयोधरा पावन माता।
गणधर ऋषि मुनि सेविता माता, देव-विद्याधर पूजिता माता।।
राजा-महाराजा चक्री वन्दिता, विद्वान् कवि नरगण पूजिता।।
पशु-पक्षी सुदृष्टि वन्दिता, स्वर्ग-मोक्षदायिनी भारती माता।।

ज्ञान-विज्ञान से अलंकृत गात्रा, शिक्षा संस्कृति से शोभित माता।।
भाषा गणित कला मण्डिता, आध्यात्मिक ज्ञान से पावन माता।।
अनेकान्तमय आपका आत्मा, स्याद्वाद वाणी से आप शोभिता।।
प्रमाण नय निक्षेप शोभिता, वस्तु स्वरूप की आप प्रणेता।।
द्रव्य गुण पर्याय की आप ज्ञाता, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहिता।।
मोक्षपथ की आप (हो) सुज्ञाता, मार्गणा गुणस्थान, सहिता।।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्रदात्री, भव्य कमल की आप सावित्री।
(भव्य कमल की विकासिनी दात्री।)
विश्वहितंकरी हे! जगज्जनी, 'कनकनन्दी' की ज्ञान दायिनी।
विश्व प्रबोधिनी सरस्वती माता, वैश्विक शान्ति की आप प्रवक्ता।।
विश्व समस्या की समाधान कर्त्ता, शत-शत वन्दना हे! जगन्माता।

नृत्याभिनय सह

''गुरु से/ (की) प्रार्थना''

(चाल : 1. उड़िया-बंगला..., 2. सायोनारा..., इतनी शक्ति...)

गुरुदेव दया करो भक्तजने/(शक्तिजने/दीनजने) ज्ञान दान करो तेरे शिष्य जने।
आप शिष्य-बन्धु दया के सागर, ब्रह्मा विष्णु रूद्र शिवशंकर।।ध्र.।।
शिष्य निर्माता आप ब्रह्मदेव, पालनकर्ता आप विष्णुदेव।
अज्ञान नाशक आप रूद्रदेव, शिष्य मंगलकारी शिवशंकर।।(1)
अज्ञान रूपी 'गु' अन्धकार, उसके नाशक 'रु' ज्योतिधर।
अज्ञान तमहर ज्योतिधर, गुरुदेव मुझे दो ज्ञानवर।। (2)
माता-पिता बन्धु मम हितंकर, तरण-तारण तुम हे/(ओ) गुरुवर।।(3)
सद्ज्ञान दाता संस्कार ज्ञाता, सदाचार दाता संस्कृति दाता।
हिताहित विवेक के आपदाता, अनुशासन से मम रक्षाकर्ता।।(4)
सत्य-तथ्य के आप महाज्ञाता, बन्ध-मोक्ष के आप हो सही ज्ञाता।।
व्यवहार निश्चयज्ञ महाप्राज्ञ, वाग्मी धर्म-धुरन्धर समयज्ञ।।(5)
मैं वन्दन पूजन तव करूँ, विनय सेवा व भक्ति करूँ।
नवकोटि से कोटी नमन करूँ, 'कनक' निष्काम प्रणाम करूँ।।(6)

सत्य सनातन की प्रार्थना

(विविध चाल: भाव गीत)

1.सायोनारा...सायोनारा, 2.प्रथम तुला वन्दितो...(मराठी), 3.हमको मन की शक्ति देना...,4. भातकुली च्या खेळा मधली...(मराठी), 5. शोधिशी मानवा...(मराठी)..., 6.करता हूँ वंदना, 7.बिन गुरुज्ञान नहीं है...(मन तड़पत), 8.यमुना किनारे, छोटी छोटी गैया..., 9. रख लाज मेरी श्रीपति..., 10.भये प्रगट कृपाला-दीनदयाला..., 11.जय हुनमान ज्ञान..., 12.कनकनन्दी कनकनन्दी भजो सुबह-शाम..., 13.मन है छोटा-सा..., 14.आओ झूले मेरे चेतन...।

हे सत्य सनातन विश्व स्वरूप, लोकालोक में व्याप्त स्वरूप।
जीव-अजीव में सहित रूप, लोक-लोकोत्तर तेरा स्वरूप।।
तू ही तत्त्व व पदार्थ रूप, द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव सहित।
तू ही अनेकान्त/(सापेक्ष) स्याद्वाद रूप, निश्चय व्यवहार तेरा स्वरूप।
मन-वचन व काय स्वरूप, कृत कारित अनुमोदन रूप।
धर्म-दर्शन-विज्ञान स्वरूप, न्याय-राजनीति तेरा स्वरूप।।
इतिहास-पुराण में तेरा स्वरूप, नीति-सदाचार में तेरा स्वरूप
व्यापार-कला में तेरा स्वरूप, आदान-प्रदान में व्याप्त रूप।।
सर्व ही प्रतिष्ठित तेरे रूप में, तेरे बिना सर्व मिथ्या स्वरूप।।
तेरे बिना सर्व शून्य स्वरूप, अवास्तविक है अभाव रूप।।
तू ही श्रेष्ठ सत्य परमेश्वर, ब्रह्मा विष्णु व महेश्वर।।
गुण-पर्यायवत् तेरा स्वरूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप।।
तू ही मोक्षमार्ग व मोक्षस्वरूप, रत्नत्रय मय तेरा स्वरूप।।
दशधर्म व पञ्चव्रत स्वरूप, आदि मध्य व अन्त स्वरूप।।
तू ही मेरा निज स्वरूप, इसी हेतु 'कनक' करे प्रयास,
/(सत्य अतिरिक्त न करे विश्वास)

''साम्यावस्था प्राप्ति हेतु प्रार्थना-प्रयास''

(चाल: तुम दिल की धड़कन... सावन का महीना... नरेन्द्र छन्द)

गल जाये सब सुख-दुःख मेरे, जो पूर्व कर्म से प्राप्त हुए हैं।
आत्मिक सुख मैं अनुभव करूँ, जो साम्यमय आत्म रूप हैं।।ध्रु.।।
जन्म-मरण तथा बाल किशोर, यौवन-प्रौढ़ तथा ही वृद्ध।
लाभ-हानि व निन्दा प्रशंसा, नहीं है मेरी आत्मिक दशा।।
यह सब कर्म उदय के फल हैं, यह नहीं मेरा निज स्वरूप।
कर्मफल में आसक्त होने से, बंधन-बद्ध होते कर्म-जाल से।।(1)
जिससे आत्मिक विकास न होता, न मिलता है आत्मिक सुख।
भौतिकता में ही विकास चाहते, जो होता है जड़ स्वरूप।।
यथा ही तीर्थंकरों ने त्यागा, सांसारिक का मोह ममत्व।
आत्म स्वरूप में स्थिर होकर, पाया यथा है निज स्वरूप।।(2)
यथा ही मेरी अवस्था चाहूँ, निर्विकल्प व शुद्ध स्वरूप।
आकर्षण-विकर्षण रहित होकर, साम्यभाव में करूँ निवास।
यथा ही राम तथा भरत भी, दोनों अवस्था में रहे निस्पृह।
राज्य प्राप्ति व राज्य त्याग में, तथा मैं रहूँ हर स्थिति में।।(3)
मैं चाहूँ मेरी परमावस्था, तथा ही आत्मिक अनन्त ज्ञान।
इस जन्म में ही यथा योग्य मैं, प्राप्त करूँ हूँ परम स्थान।।
शरीर निमित्त आवश्यकता को, स्वीकार करूँ मैं ही अनासक्त।
परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु, ''कनक'' सतत करे (करूँ) प्रयास।।(4)

''वन्दे तद्गुण-लब्धये''

(आध्यात्म गुण-गुणी के स्मरण-भजन-अनुकरण ही पूजा, प्रार्थना-वन्दना आराधना, आरती आदि)

(पूजा-प्रार्थना आदि के रहस्य स्वरूप एवं फल)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : शत-शत वन्दन... यमुना किनारे श्याम...)

पूजा प्रार्थना का स्वरूप जानो... 'वन्दे तद्गुणलब्धये' रहस्य मानो।
भाव की विशुद्धि पूजादि मानो... जड़ात्मक क्रिया नहीं है जानो।।ध्रु.।।
पूजा-प्रार्थना-आराधना/(वन्दना)/(प्रशंसा) भक्ति... याग यज्ञ विधान संस्तुति।
पर्यायवाची शब्द पूजा के जानो... मन-वचन-काय से पूजा है मानो।।
स्तुति है पुण्य गुणोत्कीर्ति... स्तोता है भव्यः प्रसन्नधीः।
निश्चितार्थी है भवां स्तुत्य... फल है नैश्रेयस सुखम्।।(1)

गुण-गुणी के भाव/(मन) में स्मरण... वचन में हो तथाहि उच्चारण/(कीर्तन)/(भजन)

काय में हो तथाहि वन्दन... जीवन में हो गुणानुकरण।
पूजक का भाव प्रसन्न होता... गुणानुस्मरण से प्रमुदित होता।
मोह-राग-द्वेष क्षीण करता... पूज्य पुरुष के गुणों को ग्रहता।।(2)

तब ही पूजक यथार्थ होता... शुभभाव से पाप को नाशता।
सातिशय पुण्य अर्जन करता... इह परलोक सुख को पाता।।
इससे रहित जो पूजादि होती... यथार्थ पूजा वह नहीं होती।।
भाव शून्य क्रिया/(पूजा) फल न देती... जड़ क्रिया से भक्ति/(पूजा) न होती।।(3)

ख्याति-पूजा-लाभ निमित्त... राग-द्वेष-मोह-काम से युक्त।
रूढ़ि-परम्परा व अज्ञान युक्त-पूजा-प्रार्थना होती है अनर्थ।।
भावसहित वचन-तन से... द्रव्य क्षेत्र व साधन क्रियाएँ।
स्तुति/(पूजा) से मिलता है यथार्थ फल ... कृतकारिता अनुमत से फल।।(4)

पवित्र भावना महान् कर्म... दान दया सेवा यथार्थ धर्म।
गुण-गुणी सम्मान यथार्थ पूजा... 'कनकनन्दी' रचे ऐसी ही पूजा।।(5)

अध्यात्म आगम निष्ठ कविता

''जिन-दर्शन : निज दर्शन''

देव दर्शन का उद्देश्य एवं फल

(चाल : आत्म शक्ति से ओतप्रोत... शत शत वन्दन...)

जिन दर्शन जिन दर्शन हेतु, यह दर्शन का सार है।
निज को जिन सम बनाना, यह समय का सार है।। ध्रु।।
जिन (व) जीव एक समान द्रव्य है, जो कि चैतन्यमय है।
चेतन दृष्टि से एक समान है, निगोद या सिद्ध जीव है।। (1)

अतः भक्त भगवान् सम है, दर्शन करे श्रद्धान से।
जिन/(भगवत्) गुण की प्राप्ति हेतु ही, दर्शन पूजन वन्दन भी।। (2)

गुण समूह ही द्रव्य होता है, जिन में जीव गुण प्रगट है।
निज में जिन गुण अव्यक्त है, अव्यक्त को व्यक्त करना है।। (3)

गुण पर्याय से युक्त द्रव्य है, जिनमें सिद्ध/(शुद्ध) पर्याय है।
भक्त में अशुद्ध पर्याय है, अशुद्ध को शुद्ध करना है।। (4)

जो देखता है जिन सिद्ध को, द्रव्य गुण पर्याय दृष्टि से।
वह देखता है निज रूप को, मुक्त होता है मोह/(कर्म) दृष्टि से।। (5)

इससे भक्त में विशुद्धि होती/(आती), पाप कर्म की निर्जरा होती।
सातिशय पुण्य का बन्ध भी होता, परम्परा से मोक्ष मिलता है।। (6)

सांसारिक सुख भी पुण्य से मिलता, आनुषंगिक रूप से मिलता।
याचना बिना ही सब मिलता, भक्त ही भगवान् भी बनता।। (7)

भक्त बिना जो भिखारी बनता, भिखारी को भीख ही मिलता।
भिक्षा से भगवान् न बनता, भिक्षा से राज्य न मिलता है।। (8)

याचना व प्रदर्शन मात्र से, जिन दर्शन नहीं निज दर्शन।
स्वात्म दर्शन हेतु 'कनक' प्रयास, अन्य लाभ में नहीं है आस।।(9)

आत्मदेव एवं नव देवता की प्रार्थना

(आत्मदेव की प्राप्ति नवदेवता के वन्दन)

(चालः तुम दिल की धड़कन में....)

शत-शत वन्दन हे आत्मदेव!...शत शत वन्दन हे! परम देव।
वन्दन तुमको है बारम्बार...वन्दन तुमको अनन्त बार।। ध्रु.।।
तेरे निमित ही धर्म व मोक्ष...तेरे निमित्त ही महान् लक्ष्य।।
तेरे निमित्त ही ध्यान व त्याग...तेरे निमित्त ही उत्तम भाव।।।
तेरे निमित्त ही परमेष्ठी पूजन...तेरे निमित्त ही दया तप व दान।
उत्तम-मंगल-स्मरण तव निमित्त...वन्दन/(शरण) नवदेव तव निमित्त।।
सिद्ध शुद्ध परमेष्ठी तव निमित्त...तेरी महानता का अभिनन्दन।
परम आदर्श तुम ही हो मेरे...तुम सम बनना ही लक्ष्य है मेरा।।
अरिहन्त परमेष्ठी को मेरा वन्दन...आपसे प्राप्त हुआ आध्यात्म/(सम्पूर्ण) ज्ञान।
सशरीरी आप हो परमात्मदेव/(परमात्ममय)...अनन्तज्ञानदर्शनसुख वीर्यमय।।
आचार्य देव को मैं करूँ नमन...जिनसे प्राप्त होता प्रत्यक्ष ज्ञान।
आचरण सह आचरण कराते...शिक्षा-दीक्षा दे जो भव्यजन तारते।।
उपाध्याय परमेष्ठी हो ज्ञान के धनी...स्व-पर मत के आप हो ज्ञानी।
अध्ययन-अध्यापन में आप प्रवीण...आपके चरणों में मेरा वन्दन।।
आत्म साधना में रत साधु महान्...समता मौनपूर्वक करो हे! ध्यान।।
पंचपरमेष्ठियों में प्रथम स्थान...निस्पृह निराडम्बरी को प्रणाम।।
जैन धर्म को मेरा सदा प्रणाम...जिससे विश्व में होता कल्याण।
जिनवाणी माता को सदा वन्दन...जो मुझे करती है ज्ञान प्रदान।।
जिनचैत्य को मैं करूँ वन्दन...स्थापना निक्षेप में जिन समान।
निज चैत्यालय की करूँ वन्दना...जहाँ पर होती जिनमूर्ति स्थापना।।

''परमात्म वन्दना''

(स्व-आत्म ध्यान)

(चालः तुम्हीं मेरे मंदिर...., तुम दिल की धड़कन में....)

चिदानन्दाय वस्तुरूपाय सत्यरूपाय नमो नमः।
शान्तरूपाय निर्विकल्पाय दिव्यरूपाय नमो नमः।।
अजराय व अमराय शाश्वताय नमो नमः।
ज्ञानरूपाय सुखरूपाय अमृताय नमो नमः।। (1)
स्वयम्भूवाय अनन्ताय अमूर्ताय नमो नमः।
आत्मस्थिताय सर्वगताय नित्यरूपाय नमो नमः।।
निर्मलाय निर्विकाराय निष्कर्माय नमो नमः।
ज्योतिरूपाय ज्ञाननन्दाय वीर्यरूपाय नमो नमः।। (2)
विदेहाय अकषाय चिन्मयाय निष्कम्पाय नमो नमः।
सूक्ष्मरूपाय परमसत्याय परमसुखाय नमो नमः।।
परमरूपाय परमसत्याय परमसुखाय नमो नमः।
पमरज्ञानाय परमवीर्याय परात्पराय नमो नमः।।(3)
परमव्याप्ताय आत्मरूपाय ब्रह्मरूपाय नमो नमः।
द्रव्यरूपाय ध्रौव्यरूपाय तत्त्वरूपाय नमो नमः।।
वीतरागाय साम्यरूपाय मोक्षरूपाय नमो नमः।
कनक (नन्दी) ध्याये तवगुणप्राप्याय निजरूपाय नमो नमः।।(4)

विजयनगर, दिनांक, 12 अक्टूबर 2012, मध्याह्न 1.39

विश्वज्ञ-विश्व उद्धारक-विश्व वन्द्य की स्तुति

(चालः वन्द्य चरण जिनके..., ज्योति कलश छलके...)

वन्द्य चरण जिनके...2
जिनके चरण नतमस्तक है, इन्द्र त्रिलोक के sss
वन्द्य चरण जिनके...2 (टेक)...
आत्मध्यान से सर्वज्ञ हुए, विश्व विद्या के ज्ञानी जो हुए।
अन्तर्यामी सभी के...2 (1) वन्द्य चरण...
सत्य अहिंसा का पाठ पढ़ाया, भौतिक विकास अनुगामी कहा।
पवित्र भाव से...2 (2) वन्द्य चरण...

आत्मविकास को सर्वोच्च कहा, भौतिक विकास अनुगामी कहा।
अनेकान्तमय से...2 (2) वन्द्य चरण...
समता सार्वभौम है कहा, व्यवहार व भाव में कहा।
वैश्विक दृष्टि से...2 (2) वन्द्य चरण...
आत्मा में परमात्मा निहित कहा, शुद्धात्मा ही परमात्मा है।
यथा वृक्ष बीज से...2 (2) वन्द्य चरण...
उन्होंने कहा करो आत्मकल्याण, जिससे होगा विश्व कल्याण।
'कनक' भाये भाव से...2 (2) वन्द्य चरण...

आध्यात्मिक गुणों की स्तुति

जय (जय) दुःख हरण सुख करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) पाप हरण पुण्य करण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) मिथ्याहरण श्रद्धा करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) ज्ञान करण तम हरण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) क्रोध हरण क्षमा करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) मान हरण मृदु करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) माया हरण आर्जव करण भावाय नमोः नम।
जय (जय) लोभ हरण शौच करण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) असत्य हरण सत्य करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) असंयम हरण संयम करण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) तृष्णा हरण तप करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) आसक्ति हरण त्याग करण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) अब्रह्म हरण ब्रह्म करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) बन्ध हरण मोक्ष करण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) क्लेश हरण शान्ति करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) विषम हरण शान्ति करण भावाय नमो नमः।।
जय (जय) अधर्म हरण धर्म करण भावाय नमो नमः।
जय (जय) सच्चिदानन्द ज्ञानानन्द भावाय नमो नमः।।

गुण-गुणी कीर्तन

(चाल : संस्कृत-कन्नड़)

भव भय हरण आत्म रमण, सत्य परायण नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (टेक)
क्षमा परायण धैर्य धारण, अहिंसा पालन नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (1)
न्याय परायण ध्यान धारण समता धारण नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (2)
शौच परायण त्याग करण तपस्या धारण नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (3)
ब्रह्म परायण शुद्धाचरण संयम धारण नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (4)
ज्ञान परायण मौन धारण कषाय हनन नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (5)
शान्ति परायण शील धारण/ (पालन) भय हरण नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (6)
कृपा परायण सुभाव धारण अचौर्य पालन नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (7)
गुण आभरण गुण परायण चिदानन्दाय नमो नमः।। हे! नमो नमः ऽऽऽ (8)

विश्व गुरु की वन्दना

(चाल : बंगला-ओडिसी-संस्कृतिनिष्ठ)

रत्न सिंहासन परे-स्वर्ण कमल ऊपरे।
समवशरण मध्ये-जिनराज विराजे।। रत्न सिंहासन परे।। (स्थायी टेक)...
सर्व ज्ञान दिवाकर-सर्व सत्य के भास्कर।
अनन्त गुण आकर-तीर्थंकर विराजे।। जिनराज विराजे।। (1)
चतुराननयप्रभु-अनन्तवीर्य के विभु।
ज्ञानधन सुख सिन्धु-अरिहन्त विराजे।। जिनराज विराजे।। (2)
क्षुधा तृष्णा रोगहर-वैरभाव शान्तकर।
सर्वऋतु सुखकर-धर्मसभा अन्दर।। जिनराज विराजे।। (3)
द्वादश सभा मध्ये-गणधर ऋषि कुले।
शतइन्द्र समाकुले-दिव्य ध्वनि खिरे।। समवशरण मध्ये।।(4)
सर्वभाषामय वाणी-सप्तभंगमय खिरी।
सर्व तत्त्व सु बखानी-अमृत खिरी।। समवशरण मध्ये।।(5)
सर्वजीव सुखकर-सर्व जीव हितकर।

ज्ञान सिन्धु सुधाकर-अमृत झरे।। समवशरण मध्ये।।(6)
विश्वगुरु तीर्थंकर-विश्ववन्द्य जिनवर/(भव्य कमल भास्कर)।
पूज्य से भी पूज्यवर-'कनक' वन्दे।। समवशरण मध्ये।।(7)

करता हूँ वन्दना आत्मज्ञानी

(चाल : आधा है चन्द्रमा...)

करता हूँ वन्दना आत्मज्ञानी/ (आत्मध्यानी)।
सत्य समता के तुम खानी/ (स्वामी)...करता हूँ ...
शत्रु मित्र में कोई भेद नहीं, अपना पराया कोई(भाव) नहीं।
कामिनी कांचन का मोह नहीं, हानि लाभ में साम्य तू ही।। (टेक)
स्व-पर का भेदज्ञान किया/(लिया) ज्ञान ज्ञेय को ज्ञात किया/(तुम जाना)।
हेय उपादेय तुम जाना, ग्राह्य-अग्राह्य को पहिचाना/(तुम जाना)।
अज्ञान मिथ्या को परिहारा, संक्लेश शत्रु को तुम मारा।।1।। करता हूँ वन्दना...।
आत्म तत्त्व के अनुगामी/(अन्वेषक), विश्व विज्ञान पारगामी।
शील गुणों के तुम हो स्वामी, तुम्हारी दृष्टि दूरगामी/(निर्विकार हो ज्ञानी ध्यानी)
निर्मल भाव के तुम स्वामी, आत्मानुभवी व अभिरामी।।2।। करता हूँ वन्दना...।
ख्याति पूजा में ना ही प्रेम, आप में समाये विश्व प्रेम।
स्व-पर हितैषी तव भाव, संकीर्ण स्वार्थ का अभाव।
'कनकनन्दी' है तेरा सदा भक्त, तेरे गुणों में सदा अनुरक्त।।3।। करता हूँ वन्दना...।

स्वात्म-गान

आत्मदेव की वन्दना

(चाल : मिलो न तुम तो हम घबराएँ...)

क्षण-क्षण में सम शान्ति/(मोक्ष/शुभ/भाव) जगा दो।
मंगलमय आत्मदेव/(भाव/निजदेव/स्वदेव/स्वद्रव्य)
करूँ मैं वन्दना...हो ओ... करूँ मैं अर्चना/(प्रार्थना/साधना)...(स्थायी)...

हे मेरे आत्म द्रव्य/(भाव) तुम ही मेरे महाप्रभु/(सर्वसर्वा) हो।
तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं विभु/(प्रभु) है
तुम ही मेरे परम शरण तुम ही परमेश्वर हो
तुम ही मेरे परम गुरु तुम ही अन्तिम लक्ष्य/(समय-सार)...
करूँ मैं वन्दना...(1)
तुम्हारे प्रसन्न बिना मैं अनन्त दुःख पाया है
राग-द्वेष संक्लेश करके अनेक कर्म कमाया है
जिस कारण चारों गति में अनन्त बार जन्मा है
पञ्च परिवर्तनों के द्वारा संसार में भ्रमा है... करूँ मैं प्रार्थना...(2)
अभी तो तव दर्शन करके उद्धारकर्त्ता को जाना है।
जिसके अभिनन्दन वन्दन से ज्ञान ज्योति जगाना/(जलाना) है
ज्ञान ज्योति में/(से) साधना करके परम सत्य को पाना है
वही परम साध्य आप हो जिसे सर्वज्ञ ने जाना/(माना)...करूँ मैं...(3)
तेरी प्राप्ति से प्राप्ति होती परम शुद्ध/(निज) सत्य की
तेरी पूजा से पूजा होती समस्त पूज्य देवों की
तेरी खोज से खोज समस्त विश्व तत्त्व की
तेरी कृपा से होती सिद्धि समस्त अपूर्ण काम (की)...करूँ मैं...(4)
तू ही क्षमा मार्दव आर्जव सत्य वीर्य ब्रह्मचर्य
अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व व अगुरुलघुत्व
ज्ञान-ज्ञेय व चिदानन्द तू ही अक्षय अव्यय
अमूर्तिक अव्याबाधमय समता शान्तिमय...करूँ मैं अर्चना...(5)
तू ही सत्य शिव सुन्दर हो अजर अमर अविकार
नित्यानद ज्ञानघनमय अनन्त सुखागार/(सुखाकार)
कनकनन्दी तो व्यवहार रूप तू ही मम स्वरूप
तेरे ही विश्वदर्शन हेतु धारा है श्रमण रूप....करूँ मैं साधना...(6)

गुणाभिनन्दन-गुणी अभिवन्दन

(गुण-गुणी दोनों का वन्दन! अभिनन्दन!)

(चालः बंगला उड़िया संस्कृतिनष्ठः भारत देश महान्: नृत्याभिनय सह)

वन्दन! अभिनन्दन...2

गुण-गुणी दोनों का ही...वन्दन! अभिवन्दन... !2

गुण से ही अभिन्न गुणी-गुण-गुणी सम...2, वन्दन अभिनन्दन

द्रव्याश्रया निर्गुणी गुणी...कहता है जिनागम...2 वन्दन अभिनन्दन

धर्म-धर्मी में नहीं है भेद-दोनों हैं अभिराम...2

एक वन्दन अन्य भी वन्दित-अग्नि ताप समान...2

सुगन्ध-कुसुम सूर्य-प्रकाश-जीव व चैतन्य गुण...2

क्षमा क्षमावान् ज्ञान-ज्ञानी-सत्य-सत्यवान्...2 वन्दन अभिनन्दन

सुगुणी सर्वत्र पूजित होते-होता है अभिनन्दन...2

अभिवन्दन अर्चन-पूजन-होता सदा सन्मान...2

आरती भजन कीर्तन मनन-होता है गुणगान...2

सत्य समता शान्ति सद्भाव-अहिंसा है गुणखान/(गुणज्ञान)...2 वन्दन अभिनन्दन

पञ्चव्रत व दशधर्म तथा-षोडष भावना जान...2

द्वादश अनुप्रेक्षा सहित-द्वादश तप सुजान...2

पंचपरमेष्ठी नवदेवता व-रत्नत्रय गुणखान...2

धर्म शुक्ल ध्यान संवर निर्जरा...मोक्ष सर्वोत्तम जान...2 वन्दन अभिनन्दन

वन्दे तद्गुण लब्धये-अतएव वन्दन जान...2

प्रज्ज्वलित दीपक सम्पर्के-दीपक जलता जान...2

लोहा भी चुम्बक बनता-चुम्बक सम्पर्के/(संसर्गे/घर्षणे) जान...2

अतएव (ही) 'कनकनन्दी' सदा करे गुणगान...2 वन्दन अभिनन्दन

जिनेन्द्र-कीर्तन

नमो जिनाय नमो जिनाय नमो जिनाय नमो नमः।

वीतरागाय हितंकराय सर्वज्ञाय नमो नमः।।

सुखरूपाय निरूपमाय आत्मरूपाय नमो नमः।

वीर्यरूपाय क्षेमंकराय निर्विकाराय नमो नमः।।

चिदानन्दाय सत्यरूपाय अभयाय नमो नमः।

नित्यानन्दाय दिव्य रूपाय ज्ञानरूपाय नमो नमः।।

विश्वज्ञाताय अमृताय निरञ्जनाय नमो नमः।

साक्षीरूपाय दिव्यगीराय अव्ययाय नमो नमः।।

आकिञ्चनाय विश्वगुरुवे अनन्ताय नमो नमः।

अजराय अव्याबाधाय ध्रौव्यरूपाय नमो नमः।।

साम्यरूपाय शान्तरूपाय ज्ञानरूपाय नमो नमः।

अरिहंताय घातीनाशाय मंगलाय नमो नमः।।

आध्यात्म गुरु चरण वन्दन-अभिनन्दन

(चालः ज्योति कलश छलके...)

वन्द्य चरण जिनके...

जिनके चरणे नतमस्तक है राव रंक सभी के ऽऽऽ वन्द्य चरण...(टेक)

सत्य अहिंसा के मार्ग पे चलते, समता शान्ति को पाना चाहते

अंतरंग भाव से...2 (1) वन्द्य चरण जिनके...

कोई न अपना न कोई न पराया, सर्व जीव में साम्य भावना

आत्मिक दृष्टि से...2 (2) वन्द्य चरण जिनके...

संकीर्णता के भाव न धरते, वैश्विक दृष्टिकोण अपनाते

अनेकान्त पक्ष से...2 (3) वन्द्य चरण जिनके...

भौतिक-आत्मिक भेद को जानते, आत्मा-परमात्मा स्वरूप जानते

आगम अनुभव से...2 (4) वन्द्य चरण जिनके...

धनी-गरीब में भेद न करते, ऊँच-नीच का भाव न धरते...

साम्य भाव सब में...2 (5) वन्द्य चरण जिनके...
ख्याति पूजा का भाव न रखते, भौतिक लाभ को हेय मानते
भेद विज्ञान बल से...2 (6) वन्द्य चरण जिनके...
ईर्ष्या द्वेष घृणा नहीं करते, पवित्र उदार भाव रखते
आत्म हित हेतु से...2 (7) वन्द्य चरण जिनके...
स्व-पर हित भाव धरते, आत्म विकास की भावना भाते
मोक्ष प्राप्ति हेतु से...2 (8) वन्द्य चरण जिनके...
कनकनन्दी तेरे चरण वन्दे, तद्गुण लब्धये कारण वन्दे
त्रिभक्ति भाव से...2 (9) वन्द्य चरण जिनके...

आध्यात्मिक गुरु की वन्दना

(आध्यात्मिक गुरु का स्वरूप एवं मेरा लक्ष्य)

(चाल: हे! वनगिरि हे! लतागिरि... उड़िया बंगला राग)

हे! यतिवर हे! मुनिवर हे! गुरुवर तुम्हें प्रणाम बारम्बार...2 (टेक)
तुमने त्यागा मोह ममत्व मायाचार, आत्महित के हेतु समस्त घर द्वार।
कुटुम्ब परिवर सहित अहंकार, लोभ व क्रोध तथा समस्त कामाचार।
शत्रु व मित्र भाव समस्त मिथ्याचार, स्व-पर हित हेतु, सतत यत्नाचार।।
(1) हे यतिवर...

तुमने जाना-माना, स्व-पर भेदज्ञान, आत्मोपलब्धि हेतु, सतत यत्नाचार।
तुमने त्यागा सर्व, अहित आडम्बर, ख्याति पूजा प्रसिद्धि, समस्त लोकाचार।
लौकिक लाभ त्यागा संक्लेश हेतुकर, निस्पृह निर्विकार आत्मिक ध्यानधर।।
(2) हे यतिवर...

हिंसा के कारण आरम्भ परिग्रह, असि मसि कृषि शिल्प आदि व्यापार।
भौतिक निर्माण आदि श्रावकाचार, समस्त त्यागकर बने है दिगम्बर
राजनीति/(राजनेता) के सम लोक संग्रह नहीं, भीड़ में न होती है शान्ति व निर्विकार।। (3) हे यतिवर...

शान्ति समता का, तुमने रस पीया, अन्य समस्त रस तुम को कटु लगा।
इसी रस हेतु है चक्री भी साधु बने, इसी रस बिना है कोई न सुखी बने।
इसी हेतु चक्री भी नमन तेरा करे, 'कनकनन्दी' सदा ऐसा ही भाव धरे।।
(4) हे यतिवर...

पूजनीय-पूजा के प्रतीक एवं फल

(मन्दिर-मूर्ति-पूजा का स्वरूप)

(चाल: 1.यमुना किनारे श्याम..., 2. इक परदेशी मेरा)

समवशरण का प्रतीक होता है मन्दिर,
केवल ईट-पत्थर का नहीं है मन्दिर।।टेक/स्थायी।।
गर्भगृह होता गन्धकुटी का प्रतीक है,
वेदिका होती दिव्य सिंहासन का प्रतीक है।
प्रतिमा होती अरिहन्त देव का प्रतीक है,
पूजक होते हैं इन्द्रदेव के प्रतीक हैं।।...समवशरण...(1)
मानभंग प्रतीक में मानस्तम्भ विराजे,
जिनशासन देव रूपे यक्ष-यक्षी विराजे।
निःसहि निःसहि मिथ्या कषाय वर्जन,
त्रय/(तीन) परिक्रमा रूपे रत्नत्रय का अर्जन।।...समवशरण...(2)
दर्शन पाठ बोलना प्रभु दर्शन की आशा,
णमोकार मंत्र पंचगुरु में विश्वास।।
नमोऽस्तु करना विनम्रता का प्रतीक,
अभिषेक करना पाप क्षालन/(पापनाशन)/पाप धोने का प्रतीक।।...समवशरण...(3)
गन्धोदक लेना प्रभु स्पर्शन प्रतीक,
आह्वानन करना है प्रभु सन्निकट प्रतीक।
जन्म जरा मृत्यु नाश के होता है उदक,
चन्दन होता है भव ताप नाश के प्रतीक।। ...समवशरण...(4)

अक्षत होता है अक्षय पद के प्रतीक,
पुष्प होता कामबाण नाश के प्रतीक।
नैवेद्य/(मिष्ठान्न) होता है क्षुधा नाश/(क्षय/शान्ति) के प्रतीक,
दीपक होता मोहतम नाश के प्रतीक।।...समवशरण...(5)
सुधूप होता अष्टकर्म नष्ट के प्रतीक,
सुफल होता मोक्षफल प्राप्ति के प्रतीक।
अनर्घ पद प्राप्ति के लिए सुअर्घ अर्पण,
स्व-पर-विश्व-शान्ति हेतु शान्तिधारा अर्पण।।...समवशरण...(6)
सुमनस विस्तार हेतु पुष्पांजलि समर्पण,
जयमाला में है प्रभु गुण गण कीर्तन।
आगन्तुक देवों के विदाई विसर्जन,
आसिका ग्रहण आत्मिक गुण ग्रहण।।...समवशरण...(7)
स्वाध्याय वस्तु स्वरूप परिज्ञान निमित्ते,
जप करना प्रभु गुण स्मरण निमित्ते।
ध्यान करना आत्म रमण के निमित्ते,
वन्दना है प्रभु गुण प्राप्ति निमित्ते।।...समवशरण...(8)
सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वात्म कल्याण के लिए,
निमित्त द्वारा उपादान जागृति के लिए।
इसके अतिरिक्त अन्य कार्य जो होते हैं,
पन्थ-मत के लिए जो राग-द्वेषकारी हैं।।...समवशरण...(9)
सत्ता-सम्पत्ति के लिए जो संघर्ष करते हैं,
अधोपतन के लिए कार्य सो करते हैं।
'कनकनन्दी' ने आगम अनुभव से लिखा है,
सुदृष्टि जनहितार्थ यह सब लिखा है।।...समवशरण...(10)

श्री अरिहन्त परमेष्ठी-पूजा

(चाल: 1.हरिगीतिका छन्द...., 2. श्री रामचन्द्र कृपालु भजमन...., 3. जो मोह माया....)

आह्वानन-जो क्रोध मान माया लोभ, नाश कर सर्वज्ञ हैं,
शरीर सह होते हुए भी, सुखी सिद्ध सम ही हैं।
जो रत्नयुत द्वादश सभा में, विराजित निर्लिप्त हैं,
विश्व के गुरु होते हुए भी, स्वयं में तल्लीन हैं।।...3

मन्त्र- ॐ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिन् अत्र अवतर-अवतर संवौषट् आह्वननम्।
ॐ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्।
ऊ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् सन्निधिकरणम्।

(1) उदक-जिनके स्मरण मात्र से ही, पाप कर्मों का नाश हो।
जिनकी द्रव्य ध्वनि से ही, ज्ञान का प्रकाश हो।
धर्म सभा में राजते, जिनदेव सच्चे आप्त हो।
आपके दिव्य दर्शन से, आत्मबोध सुप्राप्त हो।

मंत्र- ॐ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने जन्म जरामृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामिति स्वाहा।

(2) चंदन-षट् द्रव्य नव पदार्थों के तुम, ज्ञाता सच्चे जिनराज हो।
अनेकान्त और सापेक्ष के, उपदेश में तुम दक्ष हो।। धर्म सभा में राजते।
मंत्र-ॐ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने भवताप विनाशनाय चन्दनं निर्वपामिति स्वाहा।

(3) तन्दुल-जीव अजीव धर्म अधर्म, काल ज्ञाता आप हो।
आकाश में सब गर्भित हैं, आप इनके ज्ञाता हो।। धर्म सभा में राजते।

मंत्र- ॐ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने अक्षय पद प्राप्ताय अक्षतान् चन्दनं निर्वपामिति स्वाहा।

(4) पुष्प-आस्रव व बन्ध को ही, प्रभुवर ने भव भ्रमण कहा।
मोक्ष के प्राप्ति हेतु भी, निर्जरा संवर कहा।। धर्म सभा में राजते।

मंत्र- ऊँ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने कामबाण विध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामिति स्वाहा।

(5) चरु- मोक्ष ही है पूर्णता व ज्ञानानन्द स्वरूप महा।
उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप, शुद्ध स्वरूप तुमने कहा।। धर्म सभा में राजते।

मंत्र- ऊँ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामिति स्वाहा।

(6) दीप-धर्म दर्शन के ज्ञाता हो, त्रैकालज्ञ हो तुम सदा।
विश्वशान्ति के हो प्रणेता, विश्वगुरु हो सर्वदा।। धर्मसभा में राजते।

मंत्र- ऊँ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने मोहान्धकार विनाशनाय दीपं निर्वपामिति स्वाहा।

(7) धूप-राग-द्वेष और मोह को भी, आपने त्यजनीय कहा।
आस्रव-बन्ध में भी इसे, महाकारण है कहा।।धर्म सभा में राजते।।

मंत्र- ऊँ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने अष्टकर्म दहनाय धूपं निर्वपामिति स्वाहा।

(8) फल-साध्य-साधन भेद वाला, मोक्षमार्ग है द्विधा।
परस्पर सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं है कदा।।धर्म सभा में राजते।।

मन्त्र- ऊँ ह्रीं श्री अरिहन्त परमेष्ठिने मोक्षफल प्राप्तये फलं निर्वपामिति स्वाहा।

अर्घ्यं- अष्टकर्म नष्ट हेतु, अष्ट द्रव्य अर्पण करे।
अष्ट गुण प्राप्ति के हेतु, अष्टविध तर्पण करें।
धर्म सभा में राजते, जिनदेव सच्चे आप्त हो।
आपके दिव्य दर्शन से, आत्म बोध सुप्राप्त हो।।

मंत्र- ऊँ ह्री श्री अरिहन्त परमेष्ठिने अनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामिति स्वाहा।

जाप्य मंत्र-ऊँ ह्रीं श्री अरिहन्ताणं। (9, 27 या 108 बार जाप करें)

स्व-पर-विश्वशान्त्यर्थें, करते शान्ति धारा।
मन सुमन सम बन जाए, पुष्पांजलि मनहार।
शान्तये शान्ति धारा। परिपुष्पांजलिक्षिपेत्।

(गुण-गण माला (जयमाला))

गुण गण की गुणमाला ले, गायें हम जयमाल।
अनन्त गुण के हो धनी, करते मालामाल।।

(चालः चौपाई (संघ सहित....))

वन्दे तीर्थेश्वर ज्ञान नयनम्, सच्चिदानन्द हे! पूर्ण कामम्।

दिव्य ज्योति हे! चतुराननम्, अनन्तवीर्यं केवल धामम्।। (1)
सापेक्षवादी हे! अनंतज्ञाता, अनन्त संसार तारण कर्त्ता।
अनन्त चतुष्टय धारणकर्ता, जिनवाणी के तुम हो भर्त्ता।। (2)
ज्ञान-विज्ञान के तुम हो विधाता, मोक्षमार्ग के प्रेरणा दाता।
भव्य सरोज के विकास कर्त्ता, विश्वशान्ति के हे! उपदेष्टा।। (3)
वीतराग हो हे! समदर्शी, महर्षियों के तुम महर्षि।
शतेन्द्र पूजित अनन्तदर्शी, कमले विराजित हो अस्पर्शी।। (4)
ध्याता हो हे! ज्ञान ज्ञाता, आत्मानन्दी हो ज्ञान दाता
सत्य सनातन चिन्मय रूपा, दिव्यध्वनीश्वर भव्य प्रचेता।। (5)
जिनेश, महेश शुद्ध स्वरूपा, अनन्त गुणधारी विश्वरूपा।
''कनकनन्दी'' के ध्यान स्वरूप, तुम सम हो मम् भावी रूपा।। (6)

दोहा- वन्दे तद्गुण लब्धये, भाव से करे स्मरण।
वही भव्य भगवान् बने, करे जो आत्म रमण।

स्व-शुद्धात्मा ही परम शरण-मंगल-उत्तम

(चालः 1.मेरे शाश्वत शरण...सच्चे तारण तारण...., 2.तुमसे लागी लगन...)

मेरे परम शरण...श्रेष्ठ/(पावन) मंगल-उत्तम...।
आतम मेरे! तेरे ध्यान में हो ज्ञान सारे...(ध्रुव)...
तेरे ज्ञान हेतु पढ़ूँ आगम...तेरे ध्यान हेतु करूँ ज्ञान...
तेरी शान्ति हेतु...समता मैं धरूँ...आतम मेरे!...(1)...
इसी हेतु शोध-बोध करूँ...व्रत नियम-समिति भी पालूँ...
आहार-विहार व विचार करूँ...आतम मेरे!...(2)...
ब्रह्मचर्य-अचौर्य-तप-त्याग...क्षमा-मार्दव व संयम-धैर्य...
ये सब होते हैं...तेरे निमित्त...आतम मेरे!...(3)...
तेरी शुद्धता से ही है सिद्धि...वह ही मेरी परम उपलब्धि...
यह ही मेरी परम...सत्ता व सम्पत्ति...आतम मेरे!...(4)...

तेरी प्राप्ति हेतु...समाधि करूँ...तेरे हेतु यत्नाचार करूँ...
आत्म प्रसिद्धि...'कनक' का लक्ष्य...आतम मेरे!...(5)...

सच्ची श्रद्धा की शक्ति

(चालः गंगा तेरा पानी अमृत...)

श्रद्धा! तेरी महिमा अनन्त वचने कहि न जाए।
सर्वज्ञ ज्ञान गम्य तू तो रूचि-प्रज्ञा से अनुभव होय।। ध्रु.।।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ मिथ्यात्व कर्म के...
उपशम या क्षयोपशम, क्षय होने के कारण से...
होती है तेरी उत्पत्ति भव्यों में, पंचलब्धि के योग से...(1) श्रद्धा...
तेरी ही शक्ति से होता है विश्वास/(श्रद्धान) आत्मा परमात्मा में।।
द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ पर, निश्चय से स्व-आत्मा में।
स्वयं का होता है ज्ञान-भान, शुद्ध-बुद्ध रूप में...(2) श्रद्धा...
प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य होते तेरे प्रसाद से...
सच्चे देव-शास्त्र-गुरु प्रति, होती है तेरी शक्ति से...
अष्ट मद तीन मूढ़ता दूर भी होती है तेरी शक्ति से...(3) श्रद्धा...
सप्त-भय व सप्त व्यसन भी दूर होते हैं तेरे कारण...
संसार-शरीर व भोग से विरक्ति होती है तेरे कारण...
पच्चीस मल दोष भी दूर होते हैं तेरे कारण...(4) श्रद्धा
तेरे कारण ही ज्ञान सम्यक् होता, होता हिताहित विवेक...
न्याय-नीति व सदाचार युक्त, होता है जीवन पवित्र...
सनम्र सत्यग्राही उदारचित्त, होता है जीवन उदात्त...(5) श्रद्धा...
तू तो आत्मा की अमूर्तिक शक्ति, इन्द्रिय यंत्रों से परे...
अन्धश्रद्धान-अन्धानुकरण परे, बुद्धि तर्क से भी परे...
तुम से ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता, 'कनक' तू भौतिक परे...(6) श्रद्धा...

परमागमानुसार स्वशुद्धात्म ध्यानी ही श्रेष्ठ-ज्येष्ठ

(चालः क्या मौसम आया है...)

ज्ञानानन्द पाया है/सहजानन्द पाया है/ (आत्मानन्द आया है।)
गाते गाथा जिसकी (है) पावन आगम।
गाते जिसके गुण (वह) दिव्य परमागम।
गणधर भी जिसके करते हैं ध्यान।
परमात्मा वही है परम ध्येय मम।। आत्मानन्द...(ध्रुव)

वह परमात्मा ही है (मेरा) परम शुद्ध स्वरूप।
सच्चिदानन्दमय मेरा निज स्वरूप।
मैं नहीं हूँ तन-मन-इन्द्रिय स्वरूप।
मैं नहीं हूँ द्रव्य-भाव (नो) कर्म स्वरूप।
मैं नहीं हूँ राग (द्वेष) मोह स्वरूप।
मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप।। ज्ञानानन्द...(1)

आगम में वर्णन है मम संसारी स्वरूप।
चौरासी लक्षयोनि चतुर्गति स्वरूप।
मार्गणा गुणस्थान में विविध रूप।
आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा रूप।
इसी से परे, मेरा निज शुद्ध स्वरूप।
परमागम में वर्णित, अध्यात्म रूप।। सहजानन्द...(2)

निज शुद्धात्मा श्रद्धान से होता है सुज्ञान।
जिसके कारण होता है सम्यक् आचरण।
तीनों की एकाग्रता (से) होते श्रमण।
एकाग्रता से होता है, आत्मा का ध्यान।
आत्मध्यानी होते हैं श्रेष्ठ व ज्येष्ठ।
आत्मध्यानी होते हैं, आगम निष्ठ।। आत्मानन्द...(3)

स्व-अध्ययन हेतु अतः आगम स्वाध्याय।

परम तप अतः, होता (है) स्वाध्याय।
तीन लोक तथा तीन काल में।
(स्व) शुद्ध आत्म ज्ञान श्रेष्ठ सभी में।
स्वयं की उपलब्धि (ही) है परिनिर्वाण।
इसी हेतु ही 'कनक' बना श्रमण।। आत्मानन्द...(4)

सन्दर्भ :

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्तीआगमदो आगमचेट्ठा-तदो जेट्ठा।। (232) प्रव.सार

गाथार्थ:

जो रत्नत्रय की तन्मयता को प्राप्त है वह साधु है। जिसके पदार्थों में श्रद्धा है, उसके एकाग्रता होती है। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है। इसलिये शास्त्र में उद्यम करना उत्तम है/प्रधान है।

भगवान् का निश्चय स्वरूप व व्यवहार आदि रूप

(निश्चय से भगवान् स्व-कर्त्ता किन्तु व्यवहार भक्ति से मानते हैं भक्तों के उद्धारकर्ता)

(भगवान् की भक्ति का स्वरूप व फल)

(चाल: आत्मशक्ति....)

जैन धर्म में वर्णित भगवान् (सिद्ध) का, स्वरूप असंसारी व अभौतिक।
भले समझने के लिए दृष्टान्त हो सकते हैं सांसारिक व भौतिक।।
अमूर्तिक अनन्त आकाश भी भौतिक, के कारण दिखता है सीमित।
तथाहि स्व-पर दृष्टि के कारण, भगवान् को मानते यथा सब मत।। (1)

शुद्ध जीव ही होते हैं भगवान्, जो द्रव्य भाव नोकर्म रहित।
तन-मन इन्द्रिय रागद्वेषादि रिक्त, क्षुधा-तृष्णा-जन्म-मरणादि रिक्त।।
भूतपूर्व संग्रह आदि व्यवहार नय से, या भक्ति भाव से होता वर्णन।
तथापि निश्चय सत्य-तथ्य दृष्टि से, न होते वे संसारी व भौतिकमय।। (2)

अनन्त गुण युक्त सर्वज्ञ होने से, उन्हें कहते हैं विश्व के प्रभु।
किन्तु न होते वे विश्व के कर्त्ता, होते हैं स्वयं के ही कर्त्ता व विभु/(प्रभु)।।
उनकी श्रद्धा से होता आत्मविश्वास, तथाहि ज्ञान-चारित्र होता सम्यक्।
जिससे बनते हैं सिद्ध भगवान्, अतः भक्ति से कहते हैं भगवान् तारक।। (3)

सिद्ध बनने से पहले भक्तों को, स्व पुण्य से मिलता सांसारिक-वैभव।
अतः व्यवहार व लौकिक दृष्टि से, कहते हैं भगवान् देते सांसारिक-वैभव।।
भक्ति के कारण पाप नाश से, तथाहि शुभभाव व पुण्यकर्म से।
रोग संकट आदि भी दूर होते, अतः मानते से ये सब भगवान् से।। (4)
लोकालोक ज्ञाता होते हैं भगवान् अतः उन्हें कहते हैं सर्वगत।
किन्तु वे असंख्यात स्व आत्म-प्रदेश में, स्थिर होते हैं शाश्वत।
अनन्त शक्ति से युक्त होने से, उन्हें कहते हैं सर्व शक्तिमान।
किन्तु भौतिक शक्ति से रहित होते, नहीं करते वे विश्व निर्माण।। (5)

मोक्ष से पूर्व दिव्यध्वनि से, विश्व हेतु करते वे धर्मोपदेश।
इसलिय उन्हें विश्व गुरु भी कहते, विश्वउद्धारक व विशेषज्ञ।
अक्षय अनन्त ज्ञान सुख से, युक्त हैं वे सच्चिदानन्दमय।
परम अहिंसा क्षमादि से युक्त, वे होते हैं ज्ञानानन्दमय।। (6)

परम पावन व परम सत्य, परम वैभवशाली होते हैं भगवान्।
इसलिये ही तो भगवान् सब से, श्रेष्ठ-ज्येष्ठ प्रामाणिक पूजनीय।
उनकी पूजा आराधना भी वन्दे तद्गुण-लब्धये हेतु सदा विधेय।
स्वात्मोपलब्धि रूपी सिद्ध बनने, 'कनकनन्दी' का परमध्येय।। (7)

मेरी भावना मेरा लक्ष्य है मैं प्राप्त करूँ, मेरा स्व-शुद्ध स्वरूप।
क्रोध-मान-माया-लोभ नाशकर बनना चाहूँ मैं सच्चिदानंद रूप।।
हर जीव भी शुद्ध-बुद्ध बनकर पाये आध्यात्मिक अनन्त सुख।
इसी हेतु भी 'कनकन्दी' भाव-व्यवहार लेखनादि से करते प्रयास।। (8)

स्व-परमात्मा का वन्दन-अभिनन्दन स्व-द्वारा

(चालः 1.तुम दिल की...., 2.गजानना.....,3.क्या मिलिये...., 4.यमुना किनारे..., 5.भातुकली...., 6.विठू माझा...., 7. देहाची तिजोरी....)

तुझे सदा तेरा वन्दन है...तुझे मेरा अभिनन्दन है...
शरीर मध्य में रहने वाला...शुद्ध-बुद्ध आनन्दकन्द है...(...ध्रुवपद...)
तुझे वन्दना श्रद्धा के द्वारा...तुझे वन्दना प्रज्ञा के द्वारा...
ध्यान-अध्ययन-मनन द्वारा...अनुप्रेक्षा व स्मरण द्वारा...
व्रत-नियम व संयम द्वारा...तप-त्याग व सत्य के द्वारा...
सरल-सहज व आर्जव द्वारा...क्षमा-मार्दव व विनय द्वारा...(1)...
मौन (व) एकान्त निवास द्वारा...निराडम्बर निस्पृह निर्द्वन्द्व द्वारा...
आकर्षण-विकर्षण रहित द्वारा...अपेक्षा-उपेक्षा रहित द्वारा...
तेरा-मेरा भेदभाव रहित द्वारा...संकल्प-विकल्प रहित द्वारा...
शान्ति-समता-शुचिता द्वारा...ज्ञानानन्द रस पान के द्वारा...(2)...
तेरी ही वन्दना तेरे ही द्वारा...तेरा अभिनन्दन तेरे ही द्वारा...
ख्याति पूजा लाभ रहित द्वारा...धन जन मान रहित द्वारा...
पर निरपेक्ष स्व-भावना द्वारा...मञ्च माइक माला रहित द्वारा...
पत्रिका पोस्टर रहित द्वारा...विज्ञापन टीवी रहित द्वारा...(3)...
ज्ञान व ज्ञाता अभेद द्वारा...पूज्य पूजक अभेद द्वारा...
अभेद षट्कारक स्वयं के द्वारा...'कनक' वन्दे आत्मा द्वारा...(4)...

सन्दर्भ :

यः परात्मा सएवाहं सोऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्य नान्यः कश्चिदिति स्थिति।। समाधितंत्र (31)

जो परमात्मा है वे ही मैं हूँ...जो मैं हूँ वह है परमात्मा।
अतएव मम आत्मा ही उपासना...परमात्मा की है उपासना।।

सदानन्द मयं जीवं, यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम्।।(6) परमा. स्तोत्र
परमाह्लादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।
सोऽहं तं देहमध्येषु, यो जानाति स पण्डितः।।(20) परमात्म स्वरूप।
जे झायंति सदव्वं परमदव्व परम्मुदा दु सुचरिता।
ते जिनवरण भग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं।।(19) अ.पाहु.

जो स्व-द्रव्य का ध्यान करते हैं, पर द्रव्य से पराङ्मुख रहते हैं एवं सम्यक् चारित्र का निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्र देव के मार्ग में लगे रहते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

जिनवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लह णिव्वाणं ण लहइकिंतेण सुरलोयं।।(20) अ.पा.

जो योगी ध्यान में जिनेन्द्र देव के मतानुसार शुद्ध-आत्मा का ध्यान करता है वह स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता?

श्रमण ही निश्चय से रत्नत्रय-10 धर्म-9 देवता

(चाल : 1. तुम दिल की धड़कन..., 2. सायोनारा..., 3. छोटी-छोटी गैंया)

रत्नत्रयधारी समता साधक मुमुक्षु, श्रमण होते हैं जीवन्त धर्म।
ख्याति पूजा लाभ संक्लेश रहित, ध्यान-अध्ययन में रत श्रमण।।(ध्रुव)

''वस्तु स्वभावमय होता है धर्म'', तथाहि ''न धर्मो धार्मिकैर्विना।''
रत्नत्रय से पवित्र होते हैं श्रमण, मोक्ष न मिले श्रमण विना।।
''साधनां दर्शन पुण्य हैं'' ''तीर्थ भूताहि होते हैं साधवः''।
''काले फलन्ति तीर्थः'' है किन्तु, ''सद्यः फलप्रद है साधु समागमः''।।(1)

श्रमण ही बनते हैं अरिहन्त, तथाहि अन्त में बनते हैं सिद्ध।
अतः पञ्चपरमेष्ठी श्रमण ही बनते, मोक्षमार्ग व मोक्ष पर्यन्त।।
पञ्चमहाव्रत पञ्च समिति त्रिगुप्ति, उत्तम क्षमादि होते हैं श्रमण धर्म।
नवदेवता षट् आयतन भी होते हैं, प्रकारान्तर रूप में श्रमण।।(2)

रत्नत्रय तो आत्मा का स्वभाव, आत्मा को छोड़कर न अन्यत्र सम्भव।
रत्नत्रय ही है मोक्षमार्ग व, इसकी पूर्णता ही होता है मोक्ष।।
ये सब चैतन्मय होने से, इनसे युक्त श्रमण निश्चय चैत्य।
चैत्य का निवास होता है श्रमण में, अतएव श्रमण ही चैत्यगृह।।(3)
श्रमण के आधीन होते हैं कषाय, अतः श्रमण ही निश्चय आयतन।
श्रमण के आधीन मन वचन काय, अतः मुनि के देह ही आयतन।।
निश्चय से ये सब यथार्थ से होते, व्यवहार से होते चैत्य/(मूर्ति) आदि भी।
भावनापूर्वक मन्त्र संस्कार से धातु, पाषाण आदि के चैत्य आदि भी।।(4)
निश्चय-व्यवहार व नाम-स्थापना, द्रव्य-भाव रूप से सत्य जानकर।
आत्मा को परमात्मा बनाना ही होता, परम लक्ष्य अन्य सभी हैं उपकार।
यथार्थ के बिना केवल प्रतीक से, नहीं मिलता है परम मोक्ष।
मोक्ष हेतु बाह्य-अन्तरंग चाहिये, मोक्ष ही 'कनक' का अन्ति मलक्ष्य।।(5)

तस्य य करह पणामं सव्वं पुजं च विणय वच्छल्लं।
जस्स य दंसण णाणं अस्थि धुवं चेयणाभावो।।(7) बोध प्राभृत

उन जिन बिम्बरूप आचार्य परमेष्ठी को प्रणाम करो, सब प्रकार की पूजा करो, उनके प्रति विनय व वात्सल्य भाव प्रकट करो जिनके कि सम्यक् दर्शन-ज्ञान तथा निश्चित रूप से चेतनाभाव विद्यमान है।

मणवयणकाय दव्वा आसत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं।।(5) बोध प्राभृत

मन वचन काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय जिससे सम्बन्ध को प्राप्त हैं अथवा जिसके आधीन हैं, ऐसे संयमी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है।

मय राय दोस मोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंच महावयधारी आयदणं महरिसी भणियं।।(6)

मद राग द्वेष मोह क्रोध व लोभ जिसके आधीन हैं, तथा जो पंचमहाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धादायणं सिद्धां मुणिवरसहस्स मुणिदत्थं।।(7)

विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिस श्रेष्ठ मुनि के निजात्म स्वरूप सिद्ध हुआ है, अथवा जिन्होंने छह द्रव्य, सातत्त्व, नव पदार्थ अच्छी तरह जान लिए हैं, उन्हें सिद्धायतन कहा है।

बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च।
पंच महव्वय सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं।।(8)

जो ज्ञान युक्त आत्मा को जानता हो, दूसरे भव्य जीवों को उसका बोध कराता हो, पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो, ऐसे मुनि को चैत्यगृह जानो।

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्काय हियंकरं भूणियं।।(9)

जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है, उसे वह बन्ध व उसके फलस्वरूप दुःख उत्पन्न करता है और जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है, उसे वह मोक्ष तथा उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है। जिनमार्ग में चैत्यगृह को षट्कायिक जीवों का हितकारी कहा गया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।।(10)

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर की प्रतिमा स्वशासन व परशासन की अपेक्षा दो प्रकार की है, अजंगम रूप है-गति रहित है, निर्ग्रन्थ तथा वीतराग है। जिनमार्ग में ऐसी प्रतिमा मानी गयी है।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मतं।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।।(11)

जो निरतिचार चारित्र का पालन करते है, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं, तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रन्थ शरीर जंगम प्रतिमा है। वह वन्दना करने योग्य हैं।

जिणबिम्बं णाणमयं संजयम सुद्धं सुवीयरायं च।

जं देइ दिक्ख सिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।।(16)

जो ज्ञानमय हैं, संयम से शुद्ध हैं, अत्यन्त वीतराग हैं-तथा कर्मक्षय के कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनबिम्ब हैं।

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः।

सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः।।(सोमदेव सूरि)

जो ज्ञानकाण्ड व क्रियाकाण्ड में शिक्षा व दीक्षा में ऋषि, यति, मुनि व अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिए नौका के समान हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी देव के समान आराधना करने के योग्य हैं।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मतं।

अरहंतमुद्दा ऐसा दायारी दिक्खसिक्खा य।।(18) बोध प्राभृत

जो तप व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते हैं तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं, ऐसे आचार्य ही अरहन्त मुद्रा हैं, जिनबिम्ब हैं। यह अरहन्त मुद्रा दीक्षा व शिक्षा को देने वाली है।

दढसंयममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।

मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया।।(19)

जो संयम की दृढ़मुद्रा से सहित हैं, जिसमें इन्द्रियों का मुद्रणसंकोच है, जिसमें कषायों का दृढ़-मुद्रण-नियन्त्रण है एवं जो सम्यक् ज्ञान से सहित हैं, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन से यही जिनमुद्रा कही गयी है।

समता परमोधर्म-ध्यान से शान्ति

(चाल : 1. तुम दिल की धड़कन...2. सायोनारा...)

श्लोक-साम्यमेवादरात् भाव्य किमन्यैग्रन्थ विस्तरेः।
प्रक्रिया मात्र से वेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हिं।।(32) ध्यानोपदेशकोष

हिन्दी-समता को ही आदर से भाओ...ग्रन्थ विस्तार से क्या प्रयोजन...
समता की ही प्रक्रिया मात्र है...समस्त जानो वाङ्मय...

श्लोक-साम्यदेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव वक्तं ये नूनं मन्येऽयं शास्त्र विस्तरः।।(22/1) ज्ञानार्णव...

हिन्दी-समता को ही परम ध्यान...कहा है विश्वदर्शी ने...
इसी के ही कथन के लिये...मानो शास्त्र विस्तार...

श्लोक-माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा।
वैतृष्ण्यं प्रशमः शान्तिरित्यकेकार्थोःपि धीयते।।(त.शा. 139)

हिन्दी-माध्यस्थ व समता उपेक्षा...वैराग्य व साम्य अस्पृहा...
वितृष्णा व प्रशम शान्ति...एकार्थ ही ज्ञातव्य...

श्लोक-चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।(प्र.सा. 7)...

हिन्दी-चारित्र ही है परमो/(निश्चय) धर्म...जो होता है समतामय...
मोह-क्षोभ से विरहित परिणाम...आत्मा ही साम्यमय....

समीक्षा-सर्वज्ञ वीतरागी देव ने...समता को ही कहा परम धर्म...
समता में गर्भित है समस्त...आगम का ही मर्म...(1)...

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध शून्य...होता है जीव का शुद्ध परिणाम...
शुद्ध परिणाम ही समता है जो...होता है जीव का निज परिणाम...(2)...

अतः समता में गर्भित सभी...व्रत-नियम-ध्यान-अध्ययन...
तप-त्याग व संयम-साधना...परीषहजय उत्तम दशधा धर्म...(3)...

समता बिना ये समस्त गुण...सम्भव नहीं हैं रूप विभिन्न...
समता बिना ये समस्त गुण...सम्भव नहीं हैं आगम प्रमाण...(4)...
रत्नत्रय भी है समतामय...समता बिन न होता रत्नत्रय...

मोक्षमार्ग संवर-निर्जरा-मोक्ष भी...होता है पूर्ण समतामय...(5)....
साम्यभाव बिन कठोर तप भी...पतन के लिए होता है कारण...

यथा द्वीयापन की कठोर तपस्या...बनी थी स्व-पर पतन के कारण...(6)...
सरल है बाह्य तप-त्याग करना...तथाहि शारीरिक कष्ट भी सहना...

पूजा पाठ व तीर्थयात्रा करना...किन्तु कठिन है समता धरना...(7)...
यथा नारकी व पराधीन कैदी...सहन करते हैं विभिन्न कष्ट...

किन्तु समता से रहित होने से...नहीं होते हैं वे तपस्वी सन्त...(8)...
समता बिना न होती तपस्या...तथाहि आध्यात्मिक परिशुद्धता...
यथा जड़ शरीर (शव) में आत्मा बिना...नहीं होती है चेतना की सत्ता...(9)...
समता सहित न्यून भी ज्ञान...अल्प भी तप से मिल जाता है मोक्ष...
अतः समता ही सतत सेवनीय...'कनकनन्दी' चाहे परम साम्य...(9)..

भाव विशुद्धि हेतु ही करणीय धर्म

(अशुभ-शुभ-शुद्ध भाव से होता है पाप-पुण्य व मोक्ष)
(चाल : 1. आत्मशक्ति से ओतप्रोत...)

आत्मविशुद्धि के लिए ही पालनीय है सदाधर्म।
दानपूजा तीर्थयात्रा तप त्याग ध्यान व अध्ययन।।ध्रु.।।
आत्मविशुद्धि रहित जो करते हैं बाह्य धर्म।
ख्याति पूजा व लाभ हेतु रागद्वेष सहित हो धर्म।।
सातिशय पुण्य का न होता बन्ध नहीं होता है पाप नाश।
पापानुबन्धी होता है पुण्यबंध संसार न होता नाश।।(1)

मिथ्यात्व सहित जो दिखावा हेतु करते हैं धर्म।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि हेतु निदान सहित पालते धर्म।।
उन्हें न यथार्थ से होता पुण्य, पुण्य बन्धता है अतिकम।
पाप की निर्जरा भी नहीं होती, नहीं मिलता है मोक्षधाम।।(2)

जप करता हुआ सेठ, पानी-पानी का किया ध्यान।
मरकर स्व-बावड़ी में ही, मेंढ़क योनि में लिया जन्म।।
जातिस्मरण के बाद महावीर के दर्शन हेतु चल पड़ा।
कमल-दल मुख में लेकर, शुभ-भाव में चल पड़ा।।(3)

मार्ग में ही श्रेणिक के, हाथी के पैर कुचल मरा।
अन्तर्मुहूर्त में देव बनकर, समवशरण में पहुँच गया।
आकागामिनी विद्या सिद्धि हेतु, सेठ ने णमोकार मंत्र जपा।

शंका के कारण से विद्या को, वह सिद्ध न कर पाया।।(4)
शंका रहित हो चोर ने, आणं-ताणं का जप किया।
शुभ भाव व एकाग्रता से, विद्या को शीघ्र सिद्ध किया।।
पुण्य पाप (व) बन्ध-मोक्ष सभी, होते हैं परिणामों से।
शुभभावों से पुण्य बन्ध, पाप (होता) अशुभ परिणामों से।।(5)

शुद्धभाव से होता है मोक्ष, भाव ही मुख्य सभी में।
शुभ व शुद्ध भाव, करणीय (है) दान पूजादि में।।
शुभ व शुद्ध भाव हेतु, धार्मिक क्रियायें हैं निमित्त/(करण, साधन)।
बाह्य निमित्त के माध्यम से, पावन करणीय चित्त/(परिणाम)।।(6)

साधन बिना न कभी, होती है साध्य की सिद्धि।
साधन ही जब बाधक बनते, तो दूर हो जाती सिद्धि।।
लक्ष्य हो मोक्ष साधन तो, समुचित भाव हो चित्त।
साध्य मिलेगा अवश्य, 'कनक' वर्णन किया आगमोक्त।।(7)

स्व-स्व भूमिका में व्यवहार, धर्म भी सदा पालनीय।
भाव विशुद्धि हेतु व्यवहार, धर्म सदा भी पालनीय।
रागद्वेष मोह के क्षीण से, होता है भाव विशुद्ध।
'ईर्ष्या' तृष्णा-घृणा निन्दादि, त्याग से होता भाव विशुद्ध।।(8)

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं,
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तु कामः।
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्।
भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम्।। (संस्कृत पूजा)

अपने भावों की परम शुद्धता को पाने का अभिलाषी मैं आगमानुकूल जल, चन्दनादि द्रव्यों की शुद्धता को पाकर जिनस्तवन, जिनबिम्ब दर्शन आदि अनेक आवलम्बनों का आश्रय लेकर भूतार्थ रूप पूज्य अरहन्तादि का पूजन करता हूँ।

अर्हत् पुराणपुरुषोत्तम पावनानि।
वस्तून्यूननमखिलान्ययमेक एव।

अस्मिन् ज्वलद्विमल केवल बोध वह्नौ।

पुण्य समग्र महमेकमना जुहोमि।।(संस्कृत पूजा)

हे अर्हन्! हे पुराण (पुरुषोत्तम)! यह असहाय मैं इन पवित्र समस्त जलादि द्रव्यों का आलम्बन लेकर अपने समस्त पुण्य को इस दैदीप्यमान निर्मल केवलज्ञानरूप अग्नि में एकाग्रचित होकर हवन करता हूँ।

स्व-शुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारम्भ

(भौतिक से परे भी है आध्यात्मिकता)

(नैतिकता बिना धर्म नहीं व केवल नैतिकता ही धर्म नहीं)

(चाल : 1. शत शत वन्दन..., 2. आत्मशक्ति)

भोगभूमि के तिर्यंच मनुष्य भी, नहीं भोगते हैं सप्त-व्यसन।
क्रोध-मान-माया-लोभ भी होता (है) मन्द, बाह्य पंच पाप भी न करते सेवन।।(1)

भले वे होते हैं सम्यग्दृष्टि अथवा, मिथ्यादृष्टि या अभव्य।
सभी ही मानव पशु-पक्षी भी, पालन करते हैं उक्त कर्त्तव्य।।(2)

मिथ्यादृष्टि जीव जो होते यथायोग्य, उपरोक्त गुणों से सहित भी होते।
देव दर्शन भी करते वे देव, तथापि वे न होते सच्चे धार्मिक।।(3)

इसी से यह सिद्ध होता (है) उक्त सभी, कर्त्तव्य होते हैं नैतिक गुण।
व्यक्ति से लेकर विश्व मानवों को, पालनीय उपरोक्त कर्त्तव्य गुण।।(4)

तन-मन-इन्द्रिय स्वास्थ्य के लिये, तथाहि सामाजिक सुव्यवस्था हेतु।
हर मानवों को प्राकृतिक रूप से, सेवनीय उक्त गुण सभ्यता हेतु।।(5)

यथा मछली तैरती (है) पानी में, अंतरिक्ष में उड़ते (हैं) विहंगम।
तथाहि सभ्य नैतिक मानवों को, पालनीय उक्त कर्त्तव्य गुण।।(6)

निरतिशय होता पुण्य बन्ध किन्तु, न होता सातिशय पुण्य बन्ध।
सांसारिक तुच्छ भोग मिले किन्तु, नहीं मिलता है मोक्ष सुख।।(7)

इसी से आगे धर्म होता प्रारम्भ, जो होता है आध्यात्ममय।

आत्मविश्वास व आत्मज्ञान सहित, आत्म परिणाम विशुद्धमय।।(8)

आत्मविश्वास में होता है श्रद्धान, मैं हूँ सच्चिदानन्द अमूर्तमय।
तन-मन-अक्ष राग द्वेषादि रहित, ''शुद्ध बुद्ध व आनन्दमय।।''(9)

तन-मनादि मेरे नहीं शुद्ध रूप, ये सभी तो विकारी कर्मज रूप।
इसी से परे होने के लिए होता है, लक्ष्य-आचरण भी तदनुरूप।।(10)

ऐसा श्रद्धानसहित जब पालन करता, उपरोक्त सभी नैतिक कर्त्तव्य।
तब ही बनते उक्त सभी कर्त्तव्य, धार्मिकमय आध्यात्मिक कर्त्तव्य।।(11)

उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विशुद्धि होने से, संसार शरीर से होता विरक्त।
ध्यान अध्ययन व आत्म विशुद्धि से, अन्त में पाता है कर्मों से मुक्त।।(12)

आगम में इसे कहते गुणस्थान आरोहण, चतुर्थ गुणस्थान से धर्म प्रारंभ।
स्व-शुद्धात्मा की श्रद्धा व प्रज्ञा से, चतुर्थ गुणस्थान का होता प्रारंभ।।(13)

इससे अनेक शिक्षायें मिलती हैं, जो सेवन करते सप्त व्यसन आदि।
वे सामान्य भद्र नैतिक भी न होते, कहाँ से होंगे वे धार्मिक आदि।।(14)

आत्मविशुद्धि बिन उक्त नैतिक गुणों से भी, कोई न होता है सच्चा धार्मिक।
धार्मिक होने हेतु आत्म विशुद्धि युक्त, सेवनीय उक्त नैतिक कर्त्तव्य।।(15)

नैतिक से भी ज्येष्ठ है आध्यात्मिक धर्म, जो नैतिक आत्म विशुद्धि संयुक्त।
नैतिक विहीन न होता है धर्म, नैतिकता न होती संपूर्ण धर्म।।(16)

नैतिक गुण बिन कोई न होता सभ्य/(सही) मानव, आत्म विशुद्धि बिना न होता धार्मिक।
दोनों से युक्त हों सभी मानव हेतु, 'कनक' ने बनाया (यह) (पावन) शोध काव्य। (17)

विनय का व्यापक स्वरूप व फल

(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-संयम-तप-पूजा-प्रार्थना-प्रशंसा-बहुमान-सत्कार-सेवादान- आदि प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विनय का व्यापक रूप है व इन सबकी उपलब्धि सातिशय पुण्य-स्वर्ग-मोक्ष इसके प्रत्यक्ष-परोक्ष-परम्परा के फल)

(चाल : 1. आत्मशक्ति..., 2. तुम दिल की धड़कन...., 3. चौपाई...)

विनय के व्यापक स्वरूप को जानो, नवकोटि से विनय को मानो/(अपना)
गुण-गुणी प्रति विनय करो, स्वर्ग (व) मोक्ष सुख वरण करो।।(1)
दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप विनय, औपचारिक रूप में पंच विनय।
उक्त गुणों का विनय (है) गुण विनय, गुण युक्त गुरु विनय गुणी विनय (2)
ऐसा ही यथा योग्य देव-शास्त्र विनय, इसी से होता है सम्यग्दर्शन।
ज्ञान-चारित्र-तप यथार्थ/(इसी से) होते, स्वर्ग मोक्ष सुख/(फल) इसी से मिलते।।(3)
श्रद्धा भक्ति सत्कार बहुमान, स्वागत पूजा व आरती वन्दन।
आसनदान स्तुति गुण कीर्तन, दान सेवा आदि विनय-सन्मान।।(4)
(समक्ष) उपस्थित में होता प्रत्यक्ष विनय, अनुपस्थित में परोक्ष विनय।
तथाहि केवल प्रार्थना/(आरती) पूजन, तीर्थवन्दना/(स्तुति) ही नहीं पूर्ण विनय।।(5)
नमोऽस्तु करना ही नहीं पूर्ण विनय, उक्त सभी गुण होते पूर्ण विनय।
विनय पाठ ही नहीं पूर्ण, शारीरिक प्रत्यक्ष ही नहीं पूर्ण विनय।।(6)
विनय मोक्ष के द्वार स्वरूप, सर्व कल्याणदायक/(अंतरंग) तप स्वरूप।
निरंहकार व गुणग्राही स्वरूप, भावविशुद्धि आर्जव स्वरूप।।(7)
पाप नाशक सातिशय पुण्य कारक, उच्चगोत्र कीर्ति सुन्दर रूप दायक।
श्रद्धा-प्रज्ञा-चारित्र प्रदायक, अतएव विनय करे सतत 'कनक'।।(8)

जैन धर्म की विशेषता: आत्मा ही बनता है परमात्मा

(चाल: 1.आत्मशक्ति...)

कितना पावन कितना महान्, जैन धर्म है मेरा।
आत्मा को परमात्मा बनाने, उपदेश देने वाला। (स्थायी)
आत्मा ही है परमात्मा, कहता है जैन धर्म।
निश्चय नय से शुद्धि दृष्टि से, वर्णन करे आत्म धर्म।।
'सव्वे सुद्ध हु सुद्धणया' से, हर जीव है शुद्ध।
चौरासी लाख योनि मध्य के, हर जीव है शुद्ध।। (1)
कर्म के कारण जीवों के मध्य में, होता है भेद-प्रभेद।

यथा लाल-पीला-काला रंग, मिश्रित पानी में भेद-प्रभेद।।
हर जीव है स्वयंभू सनातन, अविनाशी व अविभागी।
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, सच्चिदानन्द स्वभावी।। (2)
हर जीव स्वयं का ही कर्त्ता धर्त्ता, स्वतंत्र व स्वयं पूर्ण।
आत्मपतन व आत्म विकास, स्वयं ही है उपादान।।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र द्वारा, करता स्वयं का विकास।
इसी के विपरीत आत्म विश्वास, आदि से करता स्व विनाश।। (3)
इसी हेतु बाह्य क्षेत्र काल, आदि भी होते निमित्त।
यथा आरोग्य व अवतरण हेतु, निसेणी(सोपान) होती निमित्त।।
आत्म विकास द्वारा शुद्ध बुद्ध बन, बनता है परमात्मा।
परमात्मा बनने के हेतु ही, 'कनकनन्दी' ध्याता स्व आत्मा।। (4)

यथार्थ ज्ञान=अज्ञान-निवृत्ति, हित-प्राप्ति, अहित-परिहार

(राग: 1.छोटी छोटी गैया....,2. तुम दिल की धकड़न...., 3.सायोनारा...)

हित की प्राप्ति अहित परिहार, जिससे होता वह यथार्थ/(सम्यक्) ज्ञान।
अन्य सभी तो जानकारी मात्र है, लौकिक हो या धार्मिक/(आध्यात्मिक) ज्ञान।।ध्रु.।।
यथा प्रकाश से अन्धेरा दूर होता, नवीन अंधेरा भी न होता प्रवेश।
दृश्यमान पदार्थ भी दिखायी देता ग्राह्य प्राप्त, अग्रह होता परिहार।।
तथाहि जब होता यथार्थ ज्ञान अज्ञान-अन्धकार भी होता दूर।
हित-अहित का होता परिज्ञान, हित ग्राह्य होता अहित परिहार।।
यथार्थ ज्ञान होता आत्मश्रद्धा से, यथार्थ स्वरूपमय आत्मविश्वास से।
सच्चिदानन्दमय होता आत्मा, इससे भिन्न सभी होते अनात्मा।।
रागद्वेष काम क्रोधादि सभी, सत्ता-सम्पत्ति व प्रसिद्धि डिग्री।
शत्रु-मित्र अपना-पराया भी, तन-मन-इन्द्रिय विकार बुद्धि।।
से सब अनात्मा (अतः) होते अहित, इसके परिहार से होता आत्महित।

सच्चिदानन्दमय आत्महित, इसके ग्रहण में होता आत्महित।।
यह परम आध्यात्मिक ज्ञान स्वरूप, व्यवहार-गौण में होता प्रवृत्त।
हिंसा-झूठ-कुशील-चोरी-परिग्रह, फैशन-व्यसनों से होता निवृत्त।।
अन्याय-अत्याचार, शोषण, मिलावट, दूर होता भ्रष्टाचार आतंकवाद।
निन्दा-चुगली-अपमान-वैरत्व, त्याग होता ईर्ष्या घृणा तृष्णा विवाद।।
न्याय (नीति) सदाचारादि होता ग्रहण, सादाजीवन उच्च विचार उदारमन।
समता शान्ति का होता ग्रहण, ये सब (होते) यथार्थ से सम्यग्ज्ञान।।
अन्यथा ज्ञान न होता यथार्थ ज्ञान, जानकारी मात्र या दिखावा ज्ञान।
ज्ञान का फल सदाचरण, 'कनक' का लक्ष्य पूर्ण आत्म-विज्ञान।।

संदर्भ :-

हिताहित प्राप्ति पर्हिार समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत।।(परीक्षामुख)।। (2)

जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है।

अज्ञान-निवृत्तिहानोपदानोपक्षाश्चफलम्।। (प.मुख सूत्र 1 अध्याय 5)

अज्ञान की निवृत्ति अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप निरपेक्षरूप समता भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

वैयावृत्ति से तीनकाल से सभी तीर्थंकर आदि पूजित होते

(चालः छुप गया कोई रे...)

वैयावृत्ति महान् है तीर्थंकर (भी) बताते, उत्कृष्ट वैयावृत्ति करे वे तीर्थंकर बनते।
अठारह गुणों से वे मंडित भी होते, सातिशय पुण्य से वे तीर्थंकर बनते।। (स्थायी)
आहार-औषधि-ज्ञान-अभयदान देते, वसतिका उपकरण दान देते।
शरीर मर्दन व उपसर्ग दूर करते, मलमूत्र-विसर्जन से वैयावृत्ति करते।। (1)
उनसे तीन काल के सभी तीर्थेश होते पूजित, सिद्ध-साधु-धर्म भी होते पूजित।
तीर्थेशों की आज्ञा पालन से ये सभी होते, नवकोटि से जो वैयावृत्ति करते।। (2)

वैयावृत्ति करते वे पात्र लाभ करते, दुर्गुण नाशकर वे (भी) सुगुणी होते।
दाता व पात्र तीनों (भी) उपकृत होते, दान-धर्म पुण्य को भी परस्पर पाते।। (3)
आहार दान में ही पंचाश्चर्य (भी) होते, पंचकल्याणक में (भी) पंचाश्चर्य न होते।
इसी से सिद्ध होती वैयावृत्ति की महिमा, धर्मतीर्थ-दानतीर्थ दोनों की गरिमा।। (4)
वैयावृत्ति अन्तरंग तप साधु भी करते, ज्ञानदान सेवादि से साधु भी करते।
स्वाध्याय से भी महान् तप वैयावृत्ति बताया, वात्सल्य विनय आदि गुण सह बताया।। (5)
वैयावृत्ति न करे वे धर्म बाह्य होते, तीर्थंकर आज्ञा भंग धर्मनाश करते।
आचार लोप आत्मा व साधु त्याग करते, प्रवचन लोप कर वे मिथ्यादृष्टि होते।। (6)
अतः वैयावृत्ति महान् जीवन्त धर्म, इस के बिना न प्रवर्ते मोक्ष का मार्ग।
निश्चय-व्यवहारमय होता मोक्षमार्ग, 'कनक' सेवन करता दोनों ही मार्ग।। (7)

प्राचीन नीतिकारों ने भी कहा है...

परोपकाराय फलंति वृक्षापरोपकाराय वहन्ति नद्याः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय सतां प्रवृत्तियः।।

परोपकार के लिये जीवन भर वृक्ष, जीवन शक्ति प्रदायक अमृत तुल्य उत्तमोत्तम फल देते हैं। परोपकार के लिए नदियां शीतल मधुर जल लेकर बहती हैं। परोपकार के लिये गाय अमृत तुल्य दूध जीवन भर देती है। इसी प्रकार परोपकार के लिए सज्जन सतत प्रयत्नशील रहता है।

वैयावृत्ति का वर्णन भगवती आराधना में निम्न प्रकार से किया है-

सतीए भत्तीए विज्जावच्चुजदा सदा होइ।
आणाए णिज्जारिति य सबालउड्डाउले गच्छे।।306।।

बालमुनि और वृद्धमुनियों से भरे हुए इस गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्ति करने में तत्पर रहो। सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्ति तप है और तप से निर्जरा होती है।

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे।
आहाररोसहवायणविकिं चणुव्वत्तणादीसु।।307।।

सोने के स्थान, बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखना करना, योग्य

आहार, योग्य औषधि का देना स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है।

अध्यादाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।
वेज्जावच्चं उत्तं सगहसारक्खणोवेदं।।308।।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना। जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी को रोकने वालों से और भारी रोग से जो पीड़ित हैं, विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्ष में फँसे हैं उन्हें सुभिक्ष देश में लाना, आप न डरें इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य बंधाना तथा उनका संरक्षण करने का वैयावृत्य कहा है।

वैयावृत्य न करने की निन्दा

अणिगुहिदवलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो।।309।।

अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्ति नहीं करता है तो वह धर्म से बहिष्कृत हो जाता है यह इस गाथा का अभिप्राय है।

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविधारणा अणायारो।
अप्पारोपवयणं च तेण णिज्जूहिंद होदि।।310।।

वैयावृत्य न करने से तीर्थंकरों की आज्ञा का भंग होता है। शास्त्र में कहे गये धर्म का नाश होता है। आचार का लोप होता है और उस व्यक्ति के द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति में उपकार न करने से मुनिवर्ग का त्याग होता है और शास्त्र आचरण न करने से आगम का त्याग होता है।

गुणपरिणामो सड्ढ़ा वच्छल्लं भत्ति पत्तलंभो य?
संधाणं तव पूया अव्वो तिच्छत्ती समाधी य।।311।।

वैयावृत्य करने का पहला गुण है, 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है उसकी पीड़ित साधु के गुणों में वासना होती हैकि मैं भी ऐसा बनूँ और जिस साधु की

वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणों में विशेष प्रवृत्ति होती है। इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्र का लाभ, सन्धान, अपने में गुण पूजा, छूट गये है इनका पुनः आरोपण, तप, धर्म, तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि ये गुण हैं।

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि।।312।।

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है। आज्ञा पालन से आज्ञा संयम होता है। वैयावृत्य करने वाले का उपकार होता है। निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है। संयम में सहायता होती है। विचिकित्सा ग्लानि दूर होती है। धर्म की प्रभावना होती है और कार्य का निर्वाह होता है।

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स।
वेज्जावच्चेण गुणपरिणामों कदो होदि।।316।।

इस प्रकार ऊपर कहे गये यति के गुणों में जिसका परिणाम दृढ़ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यति में जो गुण है यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्त में विचारता है वह उन गुणों में परिणत होता है। और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणती होती है अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणों से च्युत नहीं होता। अतः अपने और दूसरों के उपकार के लिए वैयावृत्य कहा है।

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढ़िं।
वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेसड्ढावि।।317।।

जैसे-जैसे गुण परिणाम होते हैं वैसे-वैसे चारित्र रूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है, और जिनेन्द्र के मार्ग में नई-नई संसार भीरूता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्द से गुणों को विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है जैसे-जैसे यति के गुणों का स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण का आरोहण करता है। जो यति के गुणों को भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता। उनके गुणों का स्मरण करने से उनमें रूचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणों के अनुरागी होते हैं। संसार से भय और श्रद्धा यति को रत्नत्रय में दृढ़ करती है। इस गाथा से श्रद्धा गुण का कथन

किया। आगे कहते हैं कि गुणों के स्मरण से उनमें रूचि होती है। रूचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शन का वात्सल्य नामक गुण होता है-

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्ल भावदो उक्कमदि।

तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ।।318।।

श्रद्धा के बढ़ने पर मुनि से वात्सल्य करते हैं। उसमें धर्म में तीव्र राग होता है धर्म में तीव्र राग समस्त जगत् में जो इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा धर्म में तीव्र राग रखने वाला यति सब सुख को प्राप्त होता है। इस गाथा से वात्सल्य का कथन किया।

वैयावृत्य भी भक्ति

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ति सव्वसाहुभती य।

आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य।।319।।

इस भव से पूर्व तीसरे भव में दर्शनविशुद्धि आदि परिणाम विशेष से जिसने तीर्थंकरत्व नामक अतिशयशाली कर्म का बंध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है, जो कल्याण किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, घातिकर्मों के विनाश से जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्यों के स्वरूप को प्रकाशित करने में पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्र मोह के क्षय से जिसने वीतरागता की प्राप्ति की है, वीर्यान्तराय कर्म के प्रक्षय से जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिसके संसार का अन्त आ गया है उन भव्य जीवों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा से जो बद्ध है, जो आठ महाप्रतिहार्य और 34 अतिशय विशेष से युक्त हैं वे अर्हन्त हैं। मिथ्यात्व आदि से परिणामों में आये आठ कर्मों के बन्धन से जो छूट चुके हैं, जो अजर, अमर, अव्याबाध गुण से युक्त हैं, अनुपम अनन्त सुख से शोभित है, जिसके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार हैं और जिन्होंने परमात्मा को पा लिया है वे सिद्ध है। इन अर्हन्तों और सिद्धों की भक्ति अरिहन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्द से यहाँ आचार्य, उपाध्याय का ग्रहण किया है। इनकी भक्ति गुरु भक्ति हैं और सर्वसाधुओं की भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रय में सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि ऊपर कहे

अनुसार वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गयी जानना। रत्नत्रय के धारकों का उपकार करने से उनका आदर की उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से अर्हन्त आदि में भक्ति होती है।

वैयावृत्य का एक गुण पात्र लाभ

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो।

लब्भदि दु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो।।321।।

वैयावृत्य करने से पाँच महाव्रतों के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने वाला कषाय वेदना का निग्रह करने वाला कषाय आत्मा को संतप्त करता है, इसे वेदना कहा है। दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शान्त होता है। इससे दान्त कहा है तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रत्नों का निधि है, नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैयावृत्य करने वाले को वैयावृत्य के लिए ऐसे सत्पात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ।

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव।।322।।

किसी निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि में कोई त्रुटि हो गयी हो तो वैयावृत्य करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र में पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैयावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथा के द्वारा संधान पद का व्याख्यान किया गया है।

वेज्जवच्चकरोपुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढ़ो।

पफ्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं।।323।।

वैयावृत्य करने वाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्ट देने वाले कर्मों की निर्जरा करता हुआ विहार करता है।

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तराविहीहिं विहरमाणेण।

जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि।।(237)

श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा, तीर्थ की अव्युच्छिति इत्यादि गुणों का उत्कृष्ट क्रम के साथ आचरण करने वाले मुनि को जो सिद्धि सुख में एकाग्रता है वह भी प्राप्त होती, क्योंकि कार्य में समाधान हुए बिना कारण में आदर नहीं होता। यदि चित्त में घट बनाने की भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण हैं उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुण परिणाम आदि सिद्ध सुख के उपाय है। सिद्धिसुख में एकाग्रता के बिना उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है।

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति।
णिग्गहियाणि कसयिंदियाणि साखिल्लदा य कदा।।328।।

जो वैयावृत्य करता है तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करता है। इस कथन में गाथा के ''आणा'' पद का व्याख्यान किया गया है। संयम योग का पालन होता है। इस कथन में संयम पद का व्याख्यान किया गया है, क्योंकि आचार्य आदि का संयम के साथ सम्बन्ध है। जो आचार्य आदि-व्याधि से पीड़ित होते हैं और बिना संक्लेश के रोग परीषह को सहने में असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करने से संयम की रक्षा होती है। अथवा 'संयम रोग' अर्थात् आदि तप के भेदों की रक्षा होती है। अपने भी दूसरों के तप की भी रक्षा होती है। दूसरों से वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करने की अनुमोदना करके स्वास्थ्य को प्राप्त कर अपने तप की रक्षा करता है तथा दूसरों की आपत्ति को दूर करके उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करने पर उनकी संयम की रक्षा होती है। दूसरों की सहायता का कथन गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं। उसमें 'जम्हा' पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है-अतः वैयावृत्य करने वाला कषाय और इन्द्रियों के दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करता है। अतः वह दूसरों को सहायता प्रदान करता है।

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च।।329।।

वैयावृत्य करने वाला उक्त प्रकार से दूसरे साधुओं को रत्नत्रय को दान करता है इसलिए वह सातिशय दान का ज्ञात होता है। तथा वैयावृत्य से सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीर का मल-मूत्रादि बिना ग्लानि के उठाने से द्रव्य विचिकित्सा दूर होती है। आगम में कहे हुए धर्म का पालन करने से

प्रवचन की प्रभावना भी होती है और संघ का जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इन गाथा में ''कज्जपुण्णाणि'' पद का व्याख्यान किया है।

गुणपरिणामादीहिं य विज्जाच्चुज्जदो समज्जेदि।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं।।330।।

वैयावृत्य में तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म का बंध करता है, जो तीनों लोकों में हलचल पैदा करता है।

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुजदस्स बहुया य।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो।।331।।

वैयावृत्य में तत्पर साधु में बहुत से गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही करता है वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है किन्तु वैयावृत्य करने वाला अपना और दूसरों का उपकार करता है अर्थात् केवल स्वाध्याय करने वाले साधु से वैयावृत्य करने वाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करने वाले साधु पर यदि विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करने वाले साधु का ही मुँह ताकना पड़ता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीर की पुष्टि के लिए शिष्यादिकों के मोह में पड़कर उनके लिए पाप कर्म या हिंसाकर्म की इच्छा नहीं रखता है उसके यह व्याख्यान शोभनीय हैं। परन्तु यदि वह अपने व दूसरों के लिए पापकर्म की इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म की अपेक्षा से ही नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा।

यहाँ पर आचार्यश्री ने संसारी भोगवादी, आलसी व्यक्तियों के सम्बन्धी मनोविज्ञान का नग्न जीवन्त रूप प्रकट किया है। अधिकांश संसारी मोही जीव उपरोक्त सिद्धांत को मनसा-वचसा प्रयोग में लाते हैं। अर्थात् वे राग-भोग, धनोपार्जन स्वार्थसिद्धि के समय में अनर्गल रूप में हिंसा करता है, पाप करता है परन्तु जब धर्मकार्य का अवसर आता है तब वह हिंसा का बहाना लेकर उस धर्मकार्य से विमुख हो जाता है। नीतिकार ने कहा भी है-

भोगरागं स्वयुवति सुखं नित्यमिछन्ति जैनाः।
दानपूजादिकुरु-कुरु न में नोऽद्य वारो वन्देन्न।।

नामधारी जैन, इन्द्रिय जनित भोग, राग-रंग, युवति जनित सुख को तो नित्य

चाहता है। परन्तु जब दानादि, धार्मिक कार्य का अवसर आता है तब धर्म से विमुख हो अनेक बहाने बनाता है और कहता है, आज का वार अच्छा नहीं है कल करेंगे। एक कवि ने कहा भी है-

प्रभु भजन को आलसी भोजन को तैयार।
ऐसे मूढ़ नरन को बार-बार धिक्कार।

ऐसा मूढ़ व्यक्ति भोग के लिए सर्वदा जागृत रहता है, कटिबद्ध रहता है, अनालसी रहता है। भोग के लिये उसका सिद्धान्त है-

कल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होगी, बहुरि करेगा कब।।

परन्तु ऐसे भोगवादी का सिद्धांत धर्म करने के लिए दूसरा है-

आज करे सो काल कर, कल करे सा परसो।
जल्दी-जल्दी क्या पड़ी है, जिन्दा रहना है बरसों।।

धर्म व आध्यात्मिक में समानता व अन्तर

(चालः तुम दिल की धड़कन में...)

धर्म है वस्तु स्वभावमय जो, हर द्रव्य में स्थित होता है।
जीव-अजीव व मूर्तिक-अमूर्तिक, हर द्रव्य धर्ममय होता है।।
आध्यात्मिक है जीव का शुद्ध स्वरूप, जो चैतन्य स्वरूप होता है।
ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय व सच्चिदानन्द स्वरूप होता है।।
हर द्रव्य में स्थित गुणों का स्वभाव, शक्ति या धर्म कहते हैं।
लक्षण या विशेष रूप से भी, धर्म का कथन भी करते हैं।। (1)
हर द्रव्य में होते सामान्य गुण, 'अस्तित्व' 'वस्तुत्व' व 'द्रव्यत्व'।
'प्रमेयत्व' 'अगुरुलघुत्व' 'प्रदेशत्व' सहित होते हर द्रव्य।।
किन्तु जीवों में होते विशेष गुण, अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय।
अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, परिग्रह समता शान्ति क्षमामय।। (2)
आत्मविश्वास अनुभव ज्ञान, सदाचार सहिष्णुता उदारमय।
भेद-विज्ञान युक्त विवेक ज्ञान, ध्यान-अध्ययन व तप त्याग।

शुद्ध बुद्ध व परमात्म अवस्था, होती है परम आध्यात्मिक मय।
इसे प्राप्त हेतु जो होती है प्रक्रिया, उसे भी कहते हैं धर्ममय।। (3)
यथा पूजा-पाठ जप आराधना, तीर्थयात्रा वन्दना प्रार्थना स्तवन।
दान दया सेवा व परोपकार, वैयावृत्ति, सहयोग, उपवास, मौन।
किन्तु आध्यात्मिक बिना उक्त धर्म काम से नहीं मिलती है परममुक्ति।
भले इसी से मिले सांसारिक सुख, भोगोपभोग-ख्याति पूजा-प्रसिद्धि।। (4)
इसी से संसार में ही परिभ्रमण होता, चौरासी लाख योनि व चतुर्गति में।
जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक मिलते, परम सुख न मिले संसार में।।
मोक्ष प्राप्ति हेतु (अतः) जीवों को आध्यात्मिक, चाहिए जीवों का शुद्ध स्वरूप।
अतएव 'कनकनन्दी' आध्यात्मिक, सेवन करे पाने को शुद्ध स्वरूप।। (5)

संदर्भः-

सद्दहति य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्म भोग-णिमित्त णदु सो कम्मक्खयणिमित्त।। (समयसार)

अभव्य जीव नित्यकर्मफल चेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है किन्तु मिथ्याज्ञान चेतना मात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। इसलिये वह कर्मों से छूटने के निमित्त रूप, ज्ञान मात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, भोग के निमित्त रूप, शुभ कर्ममात्र धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रूचि और स्पर्शन से ऊपर ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है। किन्तु अभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

अल्प पाप बन्ध कारक शुभकाम भी करणीय

(शुभ बिना अशुभ (पाप) ही संभव न कि शुद्ध (मोक्ष) सम्भव)

(चालः आत्मशक्ति....)

पावन भाव से जो धर्म करता, ख्याति पूजा लाभ परे कार्य करता।
सिन्धु के समान वह पुण्य बान्धता बिन्दु के समान वह पाप बान्धता।।ध्रुव।।
सेवादान व जो परोपकार करता, आहार औषधि से जो वैयावृत्ति करता।

मन्दिर मूर्ति का (जो) पंचकल्याण करता, पाप से अधिक वह पुण्य बांधता।।
पाप निर्जरा भी उसकी अधिक होती, आत्मविशुद्धि भी अधिक होती।
आत्मिक उन्नति भी इसी से होती, परम्परा से उसे मुक्ति मिलती।। (1)

असि मसि कृषि वाणिज्य सेवा से, पुण्य बन्ध न होता शिल्प काम से।
ये सब होते हैं आरंभ (के) काम, जीविका निर्वाह हेतु भौतिक/(सांसारिक) काम।
पाप बन्ध इसी से होता प्रचुर, द्रव्य भाव हिंसा होती प्रचुर।
अविपाक निर्जरा न होती इसी से, मोक्ष उपलब्धि न होती इसी से।। (2)

भोगोपभोग व फैशन-व्यसनों से, हिंसा-झूठ चोरी कुशील संग्रह से।
ईर्ष्या द्वेष घृणा व तृष्णा मोह से, पाप ही बन्ध होता सांसारिक काम से।
मोक्ष हेतु शुभकाम सदा करणीय/(विधेय) अन्यथा अशुभ काम होगा निश्चय।
अशुभ कार्य से जो पाप संचय होता, शुभकार्य से उसे क्षय विधेय।। (3)

शुभ से ही शुद्ध होता है प्राप्त, अशुभ से शुद्ध न होता प्राप्त।
शुभ बिना अशुभ होता अवश्य, अशुभ से पाप होगा अवश्य।।
सुलभ होते हैं अशुभ के काम, सुलभ न होते शुभ के काम।
अशुभ से परे शुभ-शुद्ध ही ग्राह्य, 'कनकनन्दी' को अध्यात्म प्रिय।। (4)

नन्दौड़ 22 नवंबर 2015 रात्रि 11.00

अल्प बन्धक परोपकार भी करणीय

जोणहाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।।(251)

यद्यपि अल्प कर्मबंध होता है तथापि शुभोपयोगी पुरुष निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलने वाले श्रावकों की तथा मुनियों की सेवा व उनके साथ दयापूर्वक धर्म प्रेम या उपकार शुद्धात्मा की भावना को विनाश करने वाले प्रसिद्धि पूजा लाभ की इच्छा आदि भावों से रहित होकर करें।

जो अनुकम्पापूर्वक परोपकार स्वरूप प्रवृत्ति उसके करने से यद्यपि अल्प लेप तो होता है तो भी अनेकांत के साथ मैत्री से जिनका चित्त पवित्र हुआ है ऐसे शुद्ध जैनों के प्रति जो कि शुद्धात्मज्ञान दर्शन में प्रवर्तमान चर्या के कारण सागर-अनगार

चर्या वाले हैं उनके प्रति शुद्धात्म की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही उस प्रवृत्ति के करने का निषेध नहीं है, किन्तु अल्प लेप वाली होने से सबके प्रति सभी प्रकार से वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इसमें (अर्थात् सबके प्रति सभी प्रकार से की जाये तो) उसी प्रकार की प्रवृत्ति से और पर से निज से शुद्धात्म परिणति से रक्षा नहीं हो सकती। (तत्वप्रदीपिका)

समीक्षा : इस गाथा में कुंदकुंद आचार्य ने एक विकल्पात्मक महत्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है तक शुभोपयोग में इच्छापूर्वक, उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करेंगे, भले उससे आनुषांगिक रूप से थोड़ा बंध भी क्यों न हो। जैसे कृषक व्यापारी आदि पहले बीज, पूँजी आदि खर्च करते हैं परन्तु उसके फलस्वरूप आगे जाकर अधिक लाभ होता है। यदि पहले बीज या पूँजी के भय से कृषि या व्यापार नहीं किया जाएगा तो अधिक लाभ से वंचित रहना पड़ेगा। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने तीर्थंकरों की स्तुति करते हुए कहा है- हे भगवान्! जो आपकी द्रव्यादि से पूजा करते हैं उन्हें थोड़ा पापबंध होता है वह पापबंध दोषकारी नहीं है, क्योंकि उससे अधिक पुण्य का संचय होता है। यथा-

पूज्य जिनं त्वार्यतोजनस्य सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।(3)

पृ. 71 (स्वयं. स्तो.)

हे भगवान्! इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले **मनुष्य के जो सराग परिणति अथवा आरंभादि जनित थोड़ा-सा पाप का दोष होता है।** वह बहुत भारी पुण्य की राशि में दोष के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि विष की अल्प मात्रा शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है।

हे नाथ! पूजा की सामग्री जुटाते समय आरंभ आदि के कारण पूजा करने वाले मनुष्य के जो अल्पतम द्रव्य हिंसा होती है तथा सरागपरिणति के कारण अल्पमत भाव हिंसा होती है उससे पूजा करने वाले का कुछ अहित नहीं होता, क्योंकि वीतराग जिनेन्द्र की पूजा करने से जो विशाल पुण्य उत्पन्न होता है उसके समक्ष वह अल्पतम हिंसा नगण्य होती है ठीक उस तरह जिस तरह कि शीत और आनंददायी

जल के समुद्र में विष की मानो एक कणिका हो।

धर्म निर्मूलं विध्वंस सहन्ते न प्रभावका।
विना सावद्य लेशेन व स्याद्धधर्मप्रभावना।।

धर्म निर्मूलं विनाश को धर्मवीर कर्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रभावक, तेजस्वी व्यक्ति सहन नहीं करते हैं। धर्म की प्रभावना के लिए निर्मल भावना से कार्य करते हुए **आनुषांगिक रूप से जो पाप बंध हो जाता है वह दोषकारक नहीं होता है।** उदाहरण के लिए मंदिर बनाने, मूर्ति बनाने, तीर्थयात्रा, आहारदान देने में, पंचकल्याण पूजादि में अवश्य ही कुछ न कुछ पाप बंध होता ही है। पर वह पाप-पुण्य के समक्ष अत्यंत अल्प होने के कारण नहीं बराबर है। इसका मुख्य कारण है भाव। भाव से ही पाप, बंध, पुण्य एवं निर्जरा होती है। एक धीवर मछली पकड़ने के लिए दिनभर जलाशय में जाल बिछाता है परंतु एक भी मछली नहीं पाता, तथापि वह पापी है। कृषक खेत में काम करते लाखों-करोड़ों जीव मरने के बाद भी धीवर के जैसे पापी नहीं है। सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्मू में हिंसा का और अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहा भी है-

जीवन्तु वा म्रियन्ता वा प्राणिनोऽमि स्वकर्मतः।
स्वं विशुद्ध मनोऽहिंसन् हिंसक पापभाग् भवेत्।।(253)
शुद्ध मार्ग मतोद्योगः शुद्ध चेतो वचो वपुः।
शुद्धान्तरात्म संपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः।।(254)

ये प्राणी अपने-अपने कर्म के उदय से जीये या मरे, किन्तु जो मानव अपना मन विशुद्ध कषाय रहित करता है वह अहिंसक है जो और अपने मन को शुद्ध कषाय युक्त करता है वह हिंसक और पापी है। जो शुद्ध मार्ग (सदाचार) के प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन व काय शुद्ध है एवं जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध (कषाय भाव से कलुषित नहीं) है वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है।

सुखदुःखा विधातापि भवेत्पाप समाश्रयः।
पटो मध्य विनिक्षिप्तं वासः स्यान्मलिनं न किम्।।(256)

चंचल मन वाला प्राणी दूसरों को सुख-दुःख न देता हुआ भी पाप बंध करने

वाला हो जाता है। क्या कपड़े की मंजुषा में रखा हुआ वस्त्र मलिन नहीं होता? अर्थात् वैसे ही भोगों की ओर दौड़ता हुआ मन भी क्या अशुभ ध्यान के कारण मलिन होकर पाप बंध करने वाला नहीं होता? अवश्य होता है।

पुण्ययापि भवेद् दुखं पापयापि भवेत्सुखम्।
स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचित्रयं चित्त चेष्टितम्।।(225)

स्वयं को व दूसरों को दुःख देने से भी पुण्य कर्म का बंध होता है और सुख देने से भी पाप कर्म का बंध होता है, क्योंकि मन की चेष्टाएँ के लिए अशक्य है। अभिप्राय यह है कि यदि तपश्चर्या व कष्ट सहन शुभ परिणामों से किये जाते हैं तो उनसे पाप बंध ही होगा। इसी तरह शुभ परिणामों से यथाविधि करे जाते हैं तो उसे पुण्य कर्म का बन्ध होता है परन्तु यदि अशुभ परिणामों से युक्त जीवों द्वारा दूसरों को दुःख से भी पुण्य बंध होता है, क्योंकि मन की चेष्टाएँ अचिन्त्य होती है।

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव स संस्थिते।
परं पापं परं पुण्यं परमं च पदं भवेत्।।(257)

शरीर आदि से हिंसा व परोपकार आदि अशुभ व शुद्ध कार्य करने में असमर्थ होने पर भी यदि चित्त, पाप में लीन रहता है तो (चित्त) वह अशुभ ध्यान द्वारा तीव्रतम पापबंध करता है।

समंतभद्राचार्य ने कहा भी हैः

पापं ध्रुवं परे दुखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः।।।(92)(आ.मी.)

कुछ लोगों की मान्यता है कि दूसरे प्राणी को दुःख देने से पाप बंध ही होता है और सुख देने से पुण्य बंध होता है। परन्तु उक्त मान्यता सही नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो विष और शस्त्रादि दूसरों को दुःख देने में निमित्त है, उन्हें पाप बंध होना चाहिए एवं कषाय रहित वीतराग दूसरे को सुख देने में निमित्त है उसे पुण्य बंध का प्रसंग हो जायेगा तो मुक्ति संघटित नहीं होगी। लोक में ऑपरेशन करने वाला वैद्य भी बीमार को कष्ट देने में निमित्त तो उसे भी पाप बन्ध का प्रसंग होगा।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखाते यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः।।(93)

कुछ लोगों की मान्यता है कि अपने को दुःख से पुण्य बंध होता है और सुख देने से पाप बंध होता है। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो वीतराग विद्वान् मुनि को भी पुण्य पाप कर्मों का बंध करने का प्रसंग हो जायेगा। क्योंकि वह तपश्चर्या द्वारा अपने को दुःखी व ज्ञानाभ्यास द्वारा अपने को सुखी बनाता है तब मुक्ति किसे होगी?

विशुद्धि संक्लेशागं चेत स्वपरस्थं सुखाऽसुखं।
पुण्यपापस्त्रवो युक्तौ न चैद्व्यर्थ वार्हतः।।(1)

पुण्य पाप बंध की व्यवस्था हमारे विशुद्ध व संक्लिष्ट परिणामों पर अवलम्बित है। इससे अपने लिए या दूसरों के लिए दिये हुए सुख व दुःख यदि क्रमशः शुभ परिणाम व अशुभ परिणामपूर्वक है तब पुण्य बंध और पाप बंध होता है। अर्थात् यदि हम दूसरे प्राणी को कषायवश दुःख देते हैं तो हमें पाप बंध ही होगा और यदि हम शुभ परिणामों से दूसरों को सुख देते हैं तो हमें पुण्य बंध ही होगा, यदि ऐसा नहीं है तो आपके मन में पुण्यास्त्रव और पापास्त्रव निष्फल है।

आगम ज्ञान व शुद्धात्मा भावना बिना मुक्ति नहीं

(शुद्धात्मा भावना बिना केवल बाह्य तप त्याग में पूजादि से मुक्ति नहीं)

(चालः छोटी छोटी गैया...सोयानारा...)

न बनते मोक्ष हेतु न होता सम्यक्त्व। भले इससे मिले स्वर्ग मनुष्य सुख।।
शुद्धात्म भावना से ही मिलता सम्यकत्व, होता है भेदविज्ञान मिथ्यात्व। (स्थायी)
अनन्तानुबन्धी क्रोधमान मायादि नशे, ज्ञान व चारित्र भी होते सम्यक्।
व्रत नियम तप त्यागादि होते सम्यक्। संवर न निर्जरा भी होते सम्यक्।
सातिशय बन्ध होता (है) पुण्य विशेष, सांसारिक सुख (व) मिले मोक्ष सुख।। (1)
शुद्धात्मा भावना बिना न होता सम्यक्त्व, सम्यक्त्व बिना तप त्याग न होते सम्यक्।
दान दया सेवा पूजा तीर्थवन्दना आदि, पापनुबन्धी पुण्य बन्धे न मिले मुक्ति।।
घोर तप त्याग उपसर्ग सहन आदि, मासोपवास सहित मुनिव्रत आदि,
सम्यक्त्व बिना न बनते मोक्ष (के) कारण, सम्यक्त्व बिना न होता भेद-विज्ञान।। (2)

सम्यक्त्व हेतु परमागम ज्ञान चाहिए, आध्यात्मिक अनुभवी श्रमण गुरु चाहिए।
पंचलब्धियों का सम्यक् संयोग चाहिए, राग द्वेषमोह का उपशम आदि चाहिए।
इसी से (होता है) आत्मा का सही श्रद्धान, जिससे होते सम्यक् व्रत (व) नियम।
स्वशद्ध आत्म का भी होता अनुभवज्ञान, जिससे निश्चय से मैं हूँ परमात्मा समान।। (3)
शुद्धात्मा से/स्व/(मैं) स्व का होता ज्ञान-ध्यान, मैं हूँ शुद्ध बुद्ध स्वभावी आनन्दघन।
राग द्वेष मोह रहित (हूँ) सच्चिदानन्द, तन मन अक्ष रहित (हूँ) ज्ञानानन्द।
इसी से आत्मविशुद्धि समता बढ़ती, राग द्वेष मोह की भी शक्ति घटती।
ईर्ष्या तृष्णा घृणा की शक्ति नशती, ख्याति पूजा लाभ की इच्छा न होती।। (4)
इसी से ही आत्मा की प्रगति होती, संवर निर्जरा सहित मुक्ति मिलती।
जिससे मिलता आत्मिक अनन्त सुख, 'कनकनन्दी' का लक्ष्य आत्मिक सुख।। (5)

''आवश्यकता से अधिक वर्चस्व व प्रसिद्धि हेतु, अधिक पाप करते हैं नीच-मानव''

(शुद्धात्मा भावना बिना केवल बाह्य तप त्याग से पूजादि से मुक्ति नहीं)

(चालः आत्मशक्ति..., तुम दिल की...)

भोजन व पानी वस्त्र निवास हेतु जितना पाप करते हैं मानव।
उससे भी अधिक वर्चस्व/(प्रसिद्धि) हेतु पाप करते हैं नीच मानव।।ध्रुव.।।
वर्चस्व हेतु आक्रमण युद्ध लूटपाट-हत्या बलात्कार करते।
सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि आडम्बर वर्चस्व हेतु मानव करते/(चाहते)।।
फैशन-व्यसन-दिखावा ढ़ोंग, वर्चस्व हेतु भी मानव करते।
पढ़ाई-नौकरी राजनीति तानाशाही वर्चस्व हेतु भी करते।।1।।
गाड़ी बंगला-यान-वाहन गृहोपकरण-वस्त्र-अलंकार।
विवाह उत्सव जन्म जयन्ती आदि वर्चस्व के भी हैं रूपान्तर।।
धर्म से लेकर राजनीति तक वर्चस्व हेतु करते षड़यंत्र।
परिवार समाज राष्ट्र अन्तर्राष्ट्र तक वर्चस्व हेतु (से) होते संत्रस्त।।2।।
वर्चस्व के कारण इसी क्षेत्रों में होते हैं धोकाधड़ी व लन्दफन्द।

वाद-विवाद से लेकर फूट-फूट आक्रमण युद्ध व आतंकवाद।।
धर्म से लेकर राजनीति तक व्यक्ति से लेकर संगठन तक।
वर्चस्व हेतु परस्पर में होता-वाद-विवाद से लेकर विनाश तक।।3।।

भरत-बाहुबली युद्ध से लेकर महाभारत के महायुद्ध तक।
वर्चस्व हेतु सिकन्दर के आक्रमण से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक।।
हर देश के राजाओं के युद्ध व व्यापारी कवि कलाकार विद्वान् तक।
हर धर्म-पंथ-मत-विचार वाले वर्चस्व हेतु संघर्षरत।।(4)।।

इसी प्रकार प्रसिद्धि हेतु भी करते उपरोक्त अयोग्य काम।
वर्चस्व हेतु प्रसिद्धि चाहिए, प्रसिद्धि हेतु भी वर्चस्व के काम।।
इसी से न सही विकास होता, शान्ति-संतुष्टि भी नहीं मिलती।
स्व-पर-विश्व को क्षति पहुँचती इह-लोक में दुर्दशा होती।।5।।

इसी हेतु ही अनेक राजा-महाराजा सेठ-साहुकार (भी) बनते हैं निस्पृह साधु।।
समस्त प्रकार वर्चस्व प्रसिद्धि त्यागकर आत्म साधना से बनते भिक्षु।
सर्वोच्च सफलता व सर्वोच्च प्रसिद्धि मिलती है आध्यात्मिक शान्ति से।
इसी उपलब्धि हेतु कनकनन्दी, वर्चस्व/(प्रसिद्धि) त्यागा है नवकोटि से।।6।।

धर्म परम सत्य-सर्व सुखकर होने पर भी धर्म से घृणादि क्यों?

(चालः आत्मशक्ति..., भातुकली....)

परम पावन व परम सत्य धर्म से भी क्यों करते हैं घृणा?
सर्वोदय व विश्व हितकर धर्म से, क्यों करते हैं मनमाना।।ध्रु.।।

धर्म तो वस्तु स्वभाव है स्व-आत्म स्वभाव भी होता धर्म।
समता शन्ति व अहिंसा स्वरूप, होता है यथार्थ से धर्म।।
तथापि अधिकांश जन सही, धर्म को न जानते न मानते।
अन्धश्रद्धा या स्वार्थवश हो, संकीर्ण कट्टरता से पालते।। (1)

जिसके कारण वे अन्याय अत्याचार पापाचार भी करते हैं।

आक्रमण-युद्ध-हत्या-बलात्कार शोषण-आतंकवाद करते हैं।।
जिसके कारण अन्य कुछ लोग, धर्म को अच्छा न मानते हैं।
धर्म को मिथ्या आडम्बर ढोंग, भेदभाव कारक मानते हैं।। (2)

भौतिक नैतिक राजनीति को, सच्चा व अच्छा मानते हैं।
सेवा-सहयोग-दान दयादि को, अच्छा मानकर पालते हैं।।
भौतिक आदि से परे/(श्रेष्ठ) हैं धर्म, सेवादि भी धर्म के अंग हैं।
स्व-अज्ञानता व धर्म विकृति से, धर्म से घृणा करते हैं।। (3)

विद्यालय आदि में तो भौतिक, सेवादि का पाठ पढ़ते हैं।
राजनीति आदि में सेवा-सहयोग, आदि का भी पाठ पढ़ाते हैं।।
तथापि स्व-अज्ञान (व) विकृति या धार्मिक क्रियाकाण्डों से।
धर्म से करते हैं भेदभाव, घृणा व विरोध सभी में।। (4)

ऐसा करके वे परमपावन, परम सत्य का विरोध करते।
स्व पर विश्व के परमहित का, प्रत्यक्ष परोक्ष विरोधी बनते/(करते)।।

इसलिये सभी को सत्य धर्म का, यथार्थ परिज्ञान चाहिये।
स्व-पर-विश्व कल्याण हेतु, 'कनक' सत्यार्थ धर्म सेइए/(कीजिए)।।(5)

हर धर्मावलम्बी जीवित हैं अन्यधर्मी (विधर्मी) से

(अन्य धर्मावलम्बी से दुष्ट व्यवहार वाले अधर्मी व पशु से भी नीच)

(चालः छोटी छोटी गैया...., सोयानारा....)

हर धर्मावलम्बी अन्य धर्मी/(विधर्मी) से जीवित रहते (हैं)।
भोजन वसन (वस्त्र) आवास हेतु सहयोग भी लेते (हैं)।। (ध्रुव)

भोजन हेतु अनाज, फल, सब्जी व मसाला आदि।
घास वृक्ष व लता गुल्म से पाते हैं अनाज आदि।
दूध व दही मट्ठा पाते हैं दूधारू पशुओं से भी।
कृषि व भार वाहन आदि करते हैं पशुओं से भी।। (1)

वसन (वस्त्र) हेतु भी अवलम्बित है कपास/(वृक्ष) आदि से।

आवास हेतु भी अवलम्बित है वृक्ष आदि से।
तथाहि औषध व तेल गृहोपकरण आदि के लिये।
अवलम्बित हर धर्मावलम्बी अन्य धर्मावलम्बी से।। (2)
ऐसा ही मानव के माध्यम से होता है व्यवहार।
वृक्ष से लेकर हर पशु तक प्रायः नहीं मानते मानव धर्म।
इसी हेतु से हर पशु तक प्रायः नहीं मानते मानव धर्म।
इसी हेतु वे हर धर्मावलम्बी/(मानव) की दृष्टि से होते अधर्मी/(अन्य धर्मी)।। (3)।।
तथापि संकीर्ण कट्टर जो धार्मिक जन होते।
वे अन्यधर्मी मानव के साथ दुर्व्यवहार भी करते।
अन्य धर्मावलम्बी के अभाव से कोई भी धर्मावलम्बी नहीं बचेंगे।। (4)
तथापि अन्य धर्मावलम्बी से, अधर्मीपूर्ण व्यवहार करते।
वृक्ष से लेकर पशु के अभाव से न बचेंगे मानव।
अतः किसी भी धर्मावलम्बी (अन्य धर्मी) प्रति न करो है दुष्टभाव।
क्षुद्र व निकृष्ट जीवों के प्रति भी, जब नहीं करणीय दुष्टभाव।।
तब अन्य धर्मी मानव प्रति, क्यों करते हो दुष्टभाव।। (5)
वृक्ष से लेकर पशु तक जब, करते हैं मानवों के उपकार।।
तब स्वयं को श्रेष्ठ धार्मिक मानने वाले/(मानव) क्यों करते हैं अपकार।
वे मानव नहीं है धार्मिक, तथा नहीं है पशु समान।
वे पशु से भी नीच है, 'कनक' का यह शोध-ज्ञान।। (6)

विषय सूची

अध्याय	पृ. सं.
पूजा का हृदय	65
अध्याय 1	**80**
धर्माराधना का केन्द्र, मन्दिर (देव), शास्त्र, गुरु	
अध्याय 2	**87**
जिन दर्शन-निज दर्शन	
अध्याय 3	**96**
यथार्थ से हमारे पूज्य	
अध्याय 4	**114**
निर्ग्रन्थ श्रमण ही नव देवता	
अध्याय 5	**143**
यथार्थ पूजा	
अध्याय 6	**170**
1. मूल में भूल	
2. शल्य	
3. धर्म में विघ्न	
4. वन्दना के 32 दोष	
अध्याय 7	**187**
दान तथा उसके विकार	
अध्याय 8	**195**
क्या आगमोक्त पूजादि पाप कारक हैं?	

अध्यात्मामृत

1. न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्म दर्शिनाम्।
जलशुद्धयाथवा यावदोषं सापि मतार्हतैः।। (92) अ.ध.

जो ब्रह्मचर्य व्रत के पालक हैं उन्हें जलके द्वारा शद्धि करने से क्या प्रयोजन है क्योंकि अशुद्धिका कारण ही नहीं है फिर जो ब्रह्मचारी होने के साथ विशेष रूप से आत्मदर्शी है उन्हें जो जलशुद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है। अथवा दोष के अनुसार साधु जलशुद्धि भी करते हैं।

2. ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम्।
मुनी नाम स्नानप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः।। (आ.सोमदेव)

ब्रह्मचर्य से युक्त और आत्मिक आचार से लीन मुनियों के लिये स्नान की आवश्यकता नहीं है। हाँ, कोई दोष लग जाता है तो उसका (दण्डस्नान) विधान है।

3. आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्थ सत्योदकशीलतटो दयोर्मि।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्रं व वारिणा शुद्धयन्ति चान्तरात्मा।।
(श्री कृष्ण)

हे पाण्डुपुत्र! आत्मा नदी है संयम पुण्यतीर्थ है, सत्य जल है, शील तट है, दया-तरंगे है। ऐसी नदी में स्नान करो जिस से आत्मा पवित्र हो जायेगा-पानी से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होता है।

4. मक्कागये मदीना गये बनकर आये हाजी।
इल्लत गई न आदत गई रहे पाजी के पाजी।।
5. कुरूते गंगा सागर स्नानं। व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानं विहीनं सर्व कर्मेण् मोख न यान्ति जन्म शतेन।। (शंकराचार्य)

6. मुदमंगलमय संत समाजू। जो जग मंगल तीरथ राजू।। (तुलसीदास)
7. भक्ति हेतु न भयो चितचाण। दुःख कारक किरिया बिन भाव।। (पं. बनारसीदास।)
8. ज्ञानं तीर्थ ध्यांनं तीर्थ दानदयातपोतीर्थ।
   तीर्यानामपि तत्तीर्थ विशुद्धमानसः परा।।

9. सत्य त्याग दमोतीर्थ क्षमार्जव शौच तीर्थ।
   अकिंचन मृदु तीर्थ ब्रह्मचर्य परं तीर्थम्।।
10. संयम धृति मौनं तीर्थ अपरिग्रहाचौर्य तीर्थ।
    तीर्थानामपि तत्तीर्थ रत्नत्रय परं तीर्थ।
11. लाख बात की बात यह कोटी ग्रन्थ का सार।
    जो सुख चाहे भ्रात तो आतम अनुभव करो।।
12. मैं अनन्त सुख को धनी, सुखमय मेरो स्वभाव।
    अविनाशी आनन्दमय सो हूँ त्रिभुवन राव।
13. यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
    अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः।। (31) (समाधितंत्र)

जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपास्य योग्य हूँ दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं इस प्रकार आराध्य-आराधक - भाव की व्यवस्था है।

15. स्वस्मिन्सद भिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
    स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरु रात्मनः।। (34) (इष्टोदेश)

अपने आत्मा में रमण करने का इच्छुक होने से अपने प्रिय पदार्थ-आत्मा का जानने वाला या जनाने वाला होने से अपने हित का प्रयोग करने वाला होने से अपना आत्मा ही अपना गुरु है।

विवेकामृत

(1) अंगूर, चावल, गुड़ आदि सड़ने से जैसे मद्य बनता है उसी प्रकार धर्म में विकार आने से धर्म अहितकारी बन जाता है।
(2) आत्मा का निर्मल भाव ही अध्यात्म है, न कि आडम्बर।
(3) भक्ति से भक्त को भगवान् बनना चाहिये न कि भिखारी।
(4) आत्म दर्शन ही धर्म है न कि प्रदर्शन।
(5) आत्म-सिद्धि के कारणों को आत्म प्रसिद्धि (ख्याति-पूजा-लाभ) में लगाना मानो अमृत को विष बनाना है।

(6) लोग-रंजन से लोक-रंजन (संसार-आसक्ति) बढ़ता है।

(7) सर्व जीवों की भलाई चाहने वाला भगवान् बन जाता है परन्तु किसी की भी खुशामद करने वाला श्वान बन जाता है।

(8) डाकू से भी अधिक उससे सावधान रहो जो धर्म के चोला के अन्दर डाकू है क्योंकि डाकू तो भौतिक वस्तु का अपहरण करता है। परन्तु पाखण्डी धर्म का भी अपहरण कर लेता है।

(9) प्रत्येक जीव में भगवान् है ऐसा मानकर किसी को भी कष्ट मत दो परन्तु अधिकांश संसारी जीव बेईमान है ऐसा मानकर उनसे सावधान रहो।

(10) किसी से भी अभद्र, अनम्र व्यवहार मत करो परन्तु असत्य के सामने मत झुको।

(11) धार्मिक व्यक्ति को सरल, सहज, विनयी, अवंचक बनना चाहिये न कि भोन्दु, जड़, दीन-हीन, दूसरों से ठगे जाने योग्य।

(12) सन्निकट रहो परन्तु सतर्क रहो।

(13) व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाओ परन्तु दूसरों पर दबाव मत डालो।

(14) दान से भी श्रेष्ठ है संतोष, अपरिग्रह, निर्लोभिता, अशोषण।

(15) भगवान् की पूजा से भी श्रेष्ठ है उनके कहे हुए मार्ग में चलते हुए स्वयं भगवान् बनना।

(16) मिथ्याधर्म के सेवन, धर्म के नाम पर अधर्म करने से भी श्रेष्ठ है धर्म नहीं करना, जैसे प्यासा को विष पीने से भी श्रेष्ठ कुछ नहीं पीना।

(17) मत्स्यपालक, मुर्गी-पालक जिस प्रकार मत्स्यादि पालन करते हुए भी मत्स्यादि के शत्रु है उसी प्रकार कुछ धार्मिक ठेकेदार धर्म के शत्रु हैं।

(18) जिस प्रकार कुछ दुष्ट नेता जनता के शत्रु होते हैं उसी प्रकार कुछ धर्मान्ध व्यक्ति धार्मिक जनों के शत्रु होते हैं।

(19) जिस प्रकार मृग-मरीचिका से प्यास नहीं बुझती है उसी प्रकार आडम्बर पूर्ण धर्म से दुःख नहीं मिटता है।

(20) ग्रन्थ को बिना पाचन किये जो केवल वाचते हैं, उन्हें ज्ञान का अपच हो जाता है। यह अपचरोग संक्रामक है अतः ऐसे रोगी से दूरा रहना प्रत्येक सुखेच्छु का कर्त्तव्य है।

(21) मिथ्या देव-देवी को पूजना ही मिथ्या नहीं है परन्तु सच्चे देव की पूजा से भौतिक वस्तु का माँगना, कुअभिप्राय से पूजना, भगवान् भौतिक वस्तु देते हैं ऐसा मानना, पूजा से भौतिक वस्तु न मिलने से पूजा को व्यर्थ मानना, भगवान् के सिद्धान्त को न मानकर केवल उनकी पूजा करना भी मिथ्यात्व है।

(22) भाव की निर्मलता, उदारता, समता जितनी-जितनी अंश में स्वयं में प्रगट होती जाती है, उतनी-उतनी अंश में पूजा सार्थक होती है, अवशेष निरर्थक है।

(23) पूजा स्वयं के उपकार के लिये की जाती है, भगवान् के उपकार या संतुष्टि के लिए नहीं।

(24) पूजा एक सरल, सहज प्राथमिक साधन है जिसमें साधक आगे बढ़ता है। परन्तु पूजा को ही साध्य मान लेना गलती है किन्तु पूजा को साधन न मानना बड़ी गलती है।

- आचार्य कनकनन्दी

पूजा का हृदय

प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक स्वभाव सुखमय होने के कारण प्रत्येक जीव सुख को अति शीघ्रता से प्राप्त करना चाहता है। वह सुख को अविच्छिन्न रूप से भोगना चाहता है। परन्तु वह सुख सांसारिक इन्द्रिय जनित, भौतिक सुख नहीं हो सकता है क्योंकि भौतिक सुख-दुःख, उत्पादक, अल्प, क्षण भंगुर है। अतएव शाश्वतिक सुख आध्यात्मिक है जो कि मुक्तात्मा को ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये सुख के लिये मुक्त होना अनिवार्य है। मुक्त होने के लिये सम्यक् चारित्र भी आवश्यक है और वह चारित्र सम्यक् बोध एवं सम्यक् श्रद्धान होने पर भी संभव है। यह बोध एवं श्रद्धान जिनवाणी से संभव है। जिनवाणी जिनेन्द्र भगवान् से प्राप्त होती है। अतएव जिनवाणी के लिये जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति, सेवा, आराधना, पूजा, संस्तुति की आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है कि सुखेच्छु-मुमुक्षु को सुख प्राप्ति के मूलभूत कारण जिनेन्द्र भगवान् की श्रद्धा-पूजा करना सर्व प्रथम एवं प्रधान कारण है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि भक्त, भगवान् बनने के लिये भगवान् की पूजा, सत् विश्वास, सत् विवेक एवं सच्चारित्र से युक्त होकर करता है।

यह ही पूजा का रहस्य, उद्देश्य, विधान एवं फल है। इसके अतिरिक्त और कोई न पूजा हो सकती है, न विधान हो सकता है, न फलादि हो सकते हैं। आगम में जो विविध पूजा विधान है, इसका ही विस्तार है या इस के ही अन्तर्गत है।

आ. समन्तभद्र स्वामी ने पूजा की महिमा का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुखनिर्हरणम्।
कामदुहि काम दाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्।।

श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम को भस्म करने वाले अरिहंत भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली पूजा करना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है-

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।।

एक ही जिनेन्द्र-भक्ति दुर्गति को नाश करने में, पुण्य को पूर्ण करने में एवं मुक्ति श्री देने में समर्थ है।

नामादि पूजा अनेक होते हुए भी भावपूजा सब पूजा का प्राण है क्योंकि भाव पूजा के बिना अन्य पूजा अकिंचित्कर है। यहाँ तक कि पंच परमेष्ठी के गुण स्मरण के अतिरिक्त केवल उनके शरीर, वर्ण, माता-पिता, बाह्य समवसरण आदि विभूति का स्मरण करते हैं, उनकी पूजा करने पर यथार्थ पूजा नहीं हो सकती है। जिस प्रकार प्राण से रहित शरीर को हिलाने, डुलाने, पिलाने से स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट सजीव नहीं हो सकता है। कहा भी है -

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव, त्वां येऽवगायान्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं। पाणौकृतं हेम पुनस्त्यजन्ति।। (23)
(विषापहार स्तोत्र)

हे नाथ! जो मनुष्य आप उसके पुत्र हो और उसके पिता हो इस प्रकार कुल का वर्णन कर आप का अपमान करते हैं, वे अब भी हाथ में आये हुए सुवर्ण को पत्थर से पैदा हुआ है इस हेतु से फिर अवश्य ही छोड़ देते हैं।

पंच परमेष्ठी यथायोग्य रागद्वेष से रहित होने के कारण, न पूजाक के प्रति राग करके उसका कोई उपकार करते हैं या द्वेष करके शत्रु को अनिष्ट पहुँचाते हैं। तथापि भक्त अपनी भक्ति भावना से पाप का संवर एवं निर्जरा करता है, पुण्य का संचय करता है, जिससे वह भौतिक सुख प्राप्त करके परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करता है। इसलिये जो पंचपरमेष्ठी को कर्त्ता-धर्त्ता मानते हैं उनका अभिप्राय मिथ्या है। यदि पंचपरमेष्ठी की आराधना से भी कथंचित् कष्ट नहीं मिटता है तो यह जानना चाहिये कि उसकी अपनी गलती उसमें छिपी हुई है चाहे वह पूर्वकृत हो या वर्तमान कृत हो। यदि कोई पूजक, पूजा के माध्यम से मेरा दुःख दूर नहीं होता है ऐसा भाव करके पूजा करना छोड़ देगा, तो यह उसका मिथ्या भाव है क्योंकि जीव सुख या दुःख अपने परिणाम से ही प्राप्त करता है, उसके लिए चाहे बाह्य निमित्त कुछ भी हो। भक्ति से पाप नष्ट होता है ऐसा मानतुंगाचार्य ने कहा भी है यथा-

त्वत्संस्तवेन भवसन्तति सन्निबद्धं, पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त लोक मलिनीलमशेषमाशु, सूर्यांशु भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।।(7)

भगवान्! आप की स्तुति से प्राणियों के अनेक भवों के बँधे हुए पाप कर्म सम्पूर्ण लोक में फैले हुए भौरों के समान काले, सूर्य की किरणों से खण्डित रात्रि सम्बन्धी समस्त अन्धकार की तरह क्षणभर में शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

कुछ लोग पंच परमेष्ठी की पूजा से दुःख संकट दूर नहीं होता है, इस प्रकार मानकर मिथ्या देव-देवियों की पूजा करते हैं। विभिन्न मिथ्या अवलम्बनों का सहारा लेते हैं, परन्तु पंच परमेष्ठी की भक्ति से केवल लौकिक या इहलोक सम्बन्धी दुःख नहीं नष्ट होता वरन् समस्त शारीरिक, मानसिक रोग दूर हो जाते हैं। परन्तु अज्ञानी लोग भ्रम से उनकी कुप्रवृत्ति करते रहते हैं। यथा कहा भी है -

विषापहारं मणिमौषधानि। मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भाग्यन्त्यहोन त्वमिति स्मरन्ति, पर्यायनामानि तवैव तानि।। (14) विषापहार)

आश्चर्य है कि लोग विष को दूर करने वाले मणि को, औषधियों को, मन्त्र को, रसायन को उद्देश्य कर यहाँ वहाँ घूमते हैं, किन्तु आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं और रसायन हैं ऐसा ख्याल नहीं करते। क्योंकि वे मणिआदि आपके ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जो पूजादि करके उसके फलस्वरूप धन, वैभव, पूजादि की कामना करते हैं वो मानो राख के लिये चंदन की लकड़ी को जलाते हैं, धागे के लिये रत्नों का हार तोड़ धागा निकालते हैं, चिंतामणि प्राप्त करके कौआ उड़ाने में फेंक देते हैं, चक्रवर्ती बनकर भिक्षा माँगते हैं, अमृत को त्यागकर विषपान करते हैं क्योंकि लौकिक कामना करना निदान है। इस निदान से सम्यग्दर्शन ही नष्ट हो जाता है। सम्यग्दर्शन नष्ट होने से वह धार्मिक ही नहीं रहता, उसकी पूजा यथार्थ नहीं होती। पूजा यथार्थ न होने से सातिशय पुण्य बंध नहीं होता, जो पुण्य भी बँधता है वह थोड़ा होता है और वह पापानुबंधी पुण्य होता है। उस पुण्य के उदय से जो कुछ थोड़ा धन वैभव मिलता है, उसमें भोगासक्त हो जाता है, मदान्ध हो जाता है इसलिये वह पुण्य उसके लिए पतन का कारण बन जाता है, संसार का कारण बन जाता है। निष्काम कर्म करने से मानसिक शांति मिलती है, सातिशय पुण्यानुबंधी पुण्य बँधता है। उस पुण्य के उदय से उत्तम शरीर, उत्तम गति, वैभव प्राप्त करता हुआ भी उसमें भोगासक्त नहीं होता है जिसके कारण वह आगे जाकर मुनि बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसीलिये धर्म करता हुआ लौकिक कामना, लौकिक माँग नहीं करना चाहिये। एक कवि ने कहा है।

माँगन मरण समान है, मत माँगो कोई भीख।
माँगन से मरना भला यह सद्गुरु की सीख।
बिन माँगे मोती मिले माँगे मिले न भीख।।
बिन माँगे दूध बराबर माँगे मिले तो पानी।
कबीर वह है खून बराबर जामें खेंचातानी।

याचना करने वाले दीन, हीन भिखारी होता है या माँगने से वह दीन हीन भिखारी बन जाता है, परन्तु जो कर्त्तव्य करता हुआ नहीं माँगता है वह महान् प्रभु बन जाता है क्योंकि उसका कर्त्तव्य ही उसे समुचित फल दे देता है, जिस प्रकार दूर से वृक्ष की पूजा करने से वृक्ष की छाया नहीं मिल सकती है किन्तु वृक्ष के नीचे छाया में बैठने से छाया मिल सकती है। कहा भी है -

इति स्तुति देव! विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि
छायातरूं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः।
(38 विषापहार)

हे देव! इस प्रकार स्तुति करके मैं दीन भाव से वरदान नहीं माँगता। क्योंकि आप उपेक्षक हैं रागद्वेष से रहित हैं अथवा वृक्ष का आश्रय करने वाले पुरुष को छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। छाया की याचना से क्या लाभ है?

देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पंचदेवताः।
मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्री ह्री-धी-धृति कीर्तयः।

अर्थात् देहि इस वचन को सुनकर शोभा, लज्जा, बुद्ध, धैर्य और कीर्ति ये शरीर रूप भवन में रहने वाले पाँच देवता देहि इस वचन के साथ ही मुख से निकलकर चले जाते हैं। अतएव ऐसी याचना का परित्याग करना ही योग्य है।

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महात्परम्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीत्रमौ दीनाभिमानिनौ।। (152)

आत्मानुशासनम्

परमाणु से दूसरा कोई छोटा नहीं है और आकाश से दूसरा कोई बड़ा नहीं है, ऐसा कहलाने वाले क्या इन दीन और अभिमानी मनुष्यों को नहीं देखा है?

याचितुगौरवं दार्तुमन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा।। (153)

याचक पुरुष का गौरव दाता के पास चला जाता है, ऐसा मैं मानता हूँ। यदि ऐसा न होता तो फिर उस समय देने रूप अवस्था से संयुक्त दाता तो गुरु और ग्रहण करने रूप अवस्था से संयुक्त याचक लघु (क्षुद्र) कैसे दिखता? अर्थात् ऐसे नहीं दिखने चाहिए थे।

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः।।(154)

तराजू के दोनों ओर क्रम से होने वाले नीचापन और ऊँचापन स्पष्टतया यह प्रगट करता है कि लेने की इच्छा करने वाले प्राणी नीचे और न लेने की इच्छा करने वाले प्राणी ऊपर जाते हैं।

परन्तु वर्तमान में देखने में आता है कि विधान, पंचकल्याण को धन कमाने का एक साधन बना लिया है। इस पूजादि करने के लिये जितना खर्च होगा उस खर्च को

पहले चन्दा माँग-माँग कर इकट्ठा करते हैं और लक्ष्य यह बनाकर चलते हैं कि जितना खर्च/व्यय होगा उससे अधिक लाभ/आय होनी चाहिये। इसलिये पंचकल्याणदि में भीड़ इकट्ठी करने के लिये बाह्य आडम्बर बाजा, संगीत-पार्टी की प्रधानता रहती है, क्योंकि इससे भीड़ अधिक इकट्ठी होगी जिससे बोली में अधिक धन इकट्ठा होगा। इसमें भावा की पवित्रता, पूजा की पद्धति, अंतरंग-क्रियाओं को एकदम गौण कर देते हैं तथा साधु संत को इसलिये बुलाते हैं कि उनके भक्तगण अधिक आयेंगे, भीड़ एकत्र होगी और बोली अधिक से अधिक रुपयों में जायेगी। बोली में तो घंटों लगायेंगे परन्तु साधुओं के पापहारी अमृतमय उपदेश नहीं करवायेंगे। जो धन्नासेठ, नेतादि सप्तव्यसनी, भ्रष्टाचारी, आतंकवादी और जो असामाजिक तत्त्व होते हैं उनका फोटो, नाम पत्रिका में छपवायेंगे, उनको माला पहनायेंगे अच्छी व्यवस्था करेंगे, उनका अतिथि सम्मान अधिक करेंगे परन्तु धार्मिक श्रावक, त्यागियों की, साधु संतों की उचित व्यवस्था तक नहीं करेंगे। जिस जैन धर्म में सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाएँ कामनाओं को नष्ट करने के लिये हैं, वही जैन धर्म में आज धर्म के नाम पर कामना का पोषण अधिक करते हैं, धन का अधिक संचय करते हैं, आडम्बर, दिखावा अधिक करते हैं। दान तो स्वपर उपकार के लिए स्वेच्छा से दिया जाता है, भले कोई देखे या न देखे, परन्तु आज दान, धन का प्रदर्शन करने के लिये, वाह-वाह लूटने के लिये, नाम लिखवाने के लिये करते हैं। जो हर कार्य में आगम की दुहाई देते हैं, उन्हें भी मैं प्रश्न करता हूँ कि प्राचीन जैन आगम में जैन आचार्य कृत शास्त्रों में कहाँ पर बोली का विधान है? जिस प्रकार मंडी में वस्तु की बोली करते हैं उसी प्रकार धर्म की बोली करके धर्म को भिखारियों की एक वृत्ति बना दिया गया है। जिस कार्यक्रम में अधिक से अधिक बोली जाती है उस कार्यक्रम को ही सफल मान लिया जाता है और उसे ही प्रभावना भी मान लिया जाता है। प्रभावना का अर्थ रुपया इकट्ठा करना नहीं है, भीड़ इकट्ठा करना नहीं है। प्रभावना का अर्थ है (प्र+भावना) अर्थात् प्रकृष्टा/उत्तम/प्रशस्त/उदात्त/निर्मल भावना ही प्रभावना है। जिस कार्यक्रम में भावना की निर्मलता नहीं है, भावना का प्रमार्जन नहीं है उसे प्रभावना नहीं कहते हैं। जिस प्रकार बाजार में भीड़ लगती है, नेताओं की सभाओं में भीड़ लगती है क्या उसे प्रभावना कहेंगे? कदापि नहीं। जिस जैन धर्म में परिग्रह को सबसे बड़ा पाप कहा गया है आज उस

जैन धर्म में धर्म के नाम पर भी परिग्रह का संचय हो रहा है। यह अति विचारणीय, परिवर्तनीय कार्य है, नहीं तो धर्म में केवल धन्ना सेठों का ही अनैतिक प्रवेश एवं अधिकार हो जाएगा तथा धार्मिक व्यक्तियों का बहिष्कार हो जायेगा। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि धर्म में दान नहीं दे, पंचकल्याण नहीं करें, पूजा न करें, धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान न करें परन्तु यह मेरी अवश्य सत्याग्रहिता एवं सत्य-पक्षपातिता है कि जैन धर्म की जो पवित्रता है, जो स्वस्थ आगमयुक्त प्रणाली है उसका उल्लंघन न हो, सब कोई स्वेच्छा से अपना कर्त्तव्य पूरा करते हुए जैन धर्म की प्रभावना करें। दान भी बोली से न देकर स्वेच्छा से यथाशक्ति, यथाभक्ति दें।

मूर्ति एवं मंदिर धर्माराधना के निमित्त प्राथमिक व्यक्तियों के लिए आवलम्बन भूत है। जैन धर्म की सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा को जीवंत रखने के लिये आधारभूत ही है। वीरसेन स्वामी ने धवला में कहा है कि जिस प्रकार वज्रपात से पहाड़ विध्वंस हो जाता है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति के दर्शन से निधत्ति निकाचित कर्म रूपी पहाड़ भी विध्वंस हो जाता है, सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति होती है और सम्यक्दर्शन की निर्मलता होती है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा के दर्शन से भगवान् का ध्यान होता है, ज्ञान होता है, भान होता है, जिसमें भाव की निर्मलता होती है, सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति होती है, पाप कर्म की निर्जरा होती है, पुण्य बंध होता है, जिससे परम्परा से मुक्ति मिलती है। इसलिए जो मंदिर बनवाता है, मूर्ति की स्थापना करता है उसकी भी पवित्र होने से उसको भी महान् धर्म का लाभ होता है। कहा भी है -

विम्बादामोन्नतियवोन्नतिमेव भक्तया,
ये कारयंति जिनसद्म जिनाकृति च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
वक्तुं परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य।। (बोधप्राभृतम्)

जो मनुष्य भक्तिपूर्वक (अधिक नहीं तो कम से कम) बिम्बादल कुन्दरु के पत्र के समान ऊँचे जिनमंदिर की और जौ के बराबर ऊँची जैन प्रतिमा को बनवाता है उसके पुण्य का कथन करने के लिये सरस्वती भी समर्थ नहीं है फिर जो अधिक ऊँचे जिन मंदिर और जिनप्रतिमा को बनवाता है उसके पुण्य का कहना ही क्या है?

परन्तु जो धन का प्रदर्शन करने के लिये, केवल अहंकार की पुष्टि के लिए, वाद विवाद को, पंथवाद को, फूट को बढाने के लिये, धन कमाने के लिये मंदिर बनाता है, मूर्ति बनवाता है तो वह यथार्थ से धर्म का भागी नहीं होता है क्योंकि धर्म का स्वरूप उसका फल आत्मा की निर्मलता है, आध्यात्मिक प्रगति है। परंतु कुछ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवन धर्म के नाम पर अधर्म ही करते हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है-

''धर्मः शब्द मात्रेण बहुशः प्राणिनोऽधमाः।
अधर्ममेव सेवन्ते विचारजड़चेतसा।।''

अर्थात् बहुशः अधम प्राणी विचार जड़ चित्त से अधर्म को ही सेवन करता है। पूजक पूजा करते हुए स्व-पर तथा विश्व-कल्याण की भावना को भाता है। वह संकीर्ण भावना से ऊपर उठकर विश्व मैत्री, विश्व कल्याण, विश्व शांति की भावना भाता है कि-

संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र सामान्य तपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवाजिनेन्द्रः।

पूजा करने वालों को, पूजा के रक्षकों को, मुनीन्द्रों को और सामान्य तपस्वियों को देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान् जिनेन्द्र शांति प्रदान करें।

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च सम्यग् वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौर मारी क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व-सौख्य-प्रदायि।।(7)

सब प्रजा का कल्याण हो। राजा बलवान् और धार्मिक हो। मेघ समय समय पर अच्छी वृष्टि करें। सब रोगों का नाश हो (जगत् में प्राणियों को दुर्भिक्ष, चोरों का उपद्रव तथा मारी(प्लेग) क्षणभर के लिये भी न हो और सब सुखों का देने वाला जैनधर्म सदा फैला रहे।

प्रध्वस्त-घाति-कर्माणः केवलज्ञान-भास्कराः।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः।।(8)

घातिया कर्मों का नाश करने वाले और केवलज्ञानरूपी सूर्य ऋषभदेव आदि तीर्थंकर जगत् में शान्ति करें।

सम्यक्दृष्टि भक्त का अंतिम लक्ष्य केवल मोक्ष होता है। पूजा से पुण्य बंध होते हुए भी पुण्य को भी वह अंतिमलक्ष्य नहीं मानता है पूजा के माध्यम से जो पुण्यबंध होता है और पुण्य के माध्यम से जो बाह्य शरीर आदि मिलता है उस शरीर आदि को भी आत्मकल्याण में लगाता है अर्थात् पुण्य का हवन भी मोक्ष रूपी यज्ञ में कर लेता है। यथा-

अर्हन् पुराणपुरुषोत्तम पावनानि।
वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमल केवल बोधवह्नौ।
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि।।(12)

हे अर्हन्! हे पुराणपुरुषोत्तम्। यह असहाय मैं इन पवित्र समस्त जलादि द्रव्यों का आलम्बन लेकर अपने समस्त पुण्य को इस दैदीप्यमान निर्मल केवलज्ञानरूपी अग्नि में एकाग्रचित्त होकर हवन करता हूँ।

उपर्युक्त आगम प्रमाण से पाठक को यह ज्ञात हो गया होगा कि वर्तमान में कुछ लोग किस प्रकार पूजा की पवित्र भावना एवं उद्देश्य से नष्ट/भ्रष्ट एवं पदच्युत हैं।

भक्त अपनी भावना के माध्यम से मूर्ति को भी साक्षात् भगवान् मानकर पूजता है तथापि वह जानता है कि भगवान् तो चैतन्य स्वरूप अखण्ड पिण्ड है। उसके एक भी आत्मप्रदेश इस मूर्ति में नहीं आ सकते हैं। यह तो स्थापना निक्षेप से मूर्ति को भावना के माध्यम से भगवान् की कल्पना की जाती है। हरिभद्र सूरी ने कहा भी है-

मुक्तयादौ तत्त्वेन प्रतिष्ठिताया न देवतापास्तु।
स्थाप्येन च मुख्येन तदधिष्ठानाद्य भावेनः।
भवति च खलु प्रतिष्ठा निजभावस्यैव देवतो देशात्।।

मुक्त होकर लोकान्त में जा विराजे हुए देवता स्थापत्य (मूर्ति) में नहीं आ सकते अतः मुख्य साक्षात् देव की स्थापना तो नहीं है। परन्तु उपचार से, देवता के उद्देश्य से निज भावों की ही मूर्ति में प्रतिष्ठा होती है।

जिस प्रकार भारत का नक्षा यथार्थ में भारत नहीं है किन्तु उस नक्शे के माध्यम से भारत का परिज्ञान होता है उसी प्रकार मूर्ति निश्चय नय से भगवान् नहीं है तथापि मूर्ति के माध्यम से भगवान् का परिज्ञान होता है। भारत का का राष्ट्रीय-ध्वज तिरंगा है। प्रत्येक भारतीय नागरिकों का कर्त्तव्य उसका सम्मान करना है, उसको गौरव देना है। परन्तु यथार्थ से भारत तिरंगा नहीं है। यदि कोई केवल तिरंगे को गौरव देता है, परन्तु भारतीय स्वस्थ परम्परा को न गौरव देता है, न भारतीयों के प्रति सम्मान का भाव है तो उसको तिरंगे को गौरव देना व्यर्थ है, ढोंग है, रूढ़ि है। इसी प्रकार कोई यदि जिन मूर्ति को महत्व देता है परन्तु जैन परम्परा, जैन संस्कृति, जैन सिद्धांत को यथार्थ से स्वीकार नहीं करता है तो उसकी यह मूर्ति पूजा व्यर्थ है। कुछ व्यक्ति तो अन्ध-श्रद्धा रूप से मूर्ति को मानते हैं परन्तु जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को नहीं मानते हैं वरन् उसके विपरीत भी चलते हैं। मूर्ति के लिये मंदिर बनायेंगे, पंचकल्याण करेंगे परन्तु साक्षात् जीवन्त रत्नत्रय के धारी साधु की सेवा नहीं करेंगे, उन्हें आहार नहीं देंगे, यहाँ तक कि कुछ व्यक्ति दिगम्बर साधुओं के लिए दर्शन के निमित्त मंदिर तक नहीं खोलेंगे। यदि कोई साधु स्वच्छता से, भक्ति से मूर्ति के चरण स्पर्श करेंगे तो कुछ व्यक्ति साधुओं का विरोध करेंगे, उन्हें अपशब्द बोलेंगे, झगड़ा कलह करेंगे। ऐसे व्यक्ति तो वैसे हैं जो 'जिन्दा बाप से लट्ठम लट्ठा, मरे हुए को पहुँचाए गंगा' अर्थात् जीवित पिता की सेवा नहीं करेंगे, उन्हें अपमानित करेंगे-मारेंगे-पीटेंगे परन्तु उनकी मृत्यु के बाद उसके शव को गंगा पहुँचायेंगे, चन्दन की लकड़ी एवं घी से शवदाह करेंगे, उसके नाम पर श्राद्ध करेंगे, दान देंगे, लाण बाटेंगे (मृत्यु के उपलक्ष्य में उपहार) संस्था खोलेंगे और पिता की मूर्ति की स्थापना करेंगे। किसी ने कहा भी है-

''दुखिया को तपन देते हैं लोग, खिलती कलियों को कुचल देते हैं लोग।
जीते जी भले तन पर न हो कपड़ा।मरने पर कफन देते हैं लोग।।''

उन्हें ये ज्ञात नहीं कि साधु ही पंचपरमेष्ठी है, नवदेवता है और जीवन्त धर्म है। ऐसे व्यक्ति तो वस्तुतः जड़ पूजक हैं। ऐसे व्यक्ति न अपना कल्याण कर सकते हैं, न धर्म का प्रचार कर सकते हैं परन्तु इसके विपरीत वे स्वघात के साथ-साथ धर्म का भी घात कर लेते हैं।

प्राथमिक साधक भावात्मक दृष्टि से एवं ज्ञान की दृष्टि से अधिक दृढ़ एवं

परिपक्व नहीं होने के कारण वह बाह्य मूर्ति आदि का अवलम्बन लेता है। जिस प्रकार असमर्थ शिशु चलने के लिये दीवार, माँ-बाप की अंगुली का अवलम्बन लेकर चलता है और वही जब समर्थ हो जाता है तो उन अवलम्बनों का त्याग कर देता है। इसी प्रकार प्राथमिक पूजक भगवान् की पूजा के लिये भाव पूजा के साथ-साथ द्रव्यों का भी अवलम्बन लेता है। कहा भी है-

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तु कामः।
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गून भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम्।।
(11)(ज्ञानपीठ पूजांजलि)

अपने भावों की परम शुद्धता को पाने का अभिलाषी मैं आगमानुकूल जल, चन्दनादि द्रव्यों की शुद्धता को पाकर जिनस्तवन, जिनबिम्बदर्शन आदि अनेक आवलम्बनों का आश्रय लेकर भूतार्थ पूज्य अरहन्तादि का पूजन करता हूँ।

जिस प्रकार बच्चे खेलने के लिये गेंद, खिलौने आदि का अवलम्बन लेते हैं उसके माध्यम से अंगोपांग को संचालन करके मनोरंजन के साथ-साथ शरीर को स्वस्थ सबल बनाते हैं तथापि मनोरंजन या खेल उस गेंद में या खिलौने में नहीं है, वह तो केवल बाह्य अवलम्बन है। यदि कोई बच्चा खिलौने को लेकर दुःखी होगा, रोगी होगा, दुर्बल होगा, तो इसमें खिलौनों का कोई दोष नहीं है परन्तु स्वयं का ही दोष है। इसी प्रकार कुछ लोग पूजा का साध्य भूलकर साधन (पूजा द्रव्य) में इतने भटकते हैं, इतने दूषित भाव करते हैं कि उनकी पूजा उनके लिए, आत्मकल्याण के लिये कारण नहीं बनती है परन्तु आत्मपतन के लिये भी कारण बन जाती है। जिस प्रकार एक नगर में पहुँचने के लिये एक रास्ता माध्यम है, उस रास्ते में लक्ष्य की ओर बढ़ने से हम नगर को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु उस रास्ते को लेकर कलह करते रहेंगे और आगे नहीं बढ़ेंगे तो इच्छित नगर को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार अष्ट-द्रव्य अवलम्बन है, प्रतीक है। जिस प्रकार जल पवित्रता का, शीतलता का प्रतीक है। उसको चढ़ाते हुए भक्त भावना भाता है कि हे भगवान्, जिस प्रकार आप ने जन्म-जरा मृत्यु विनाश करके शाश्वत सुख को प्राप्त करूँ-शीतलता को प्राप्त करूँ। परन्तु यदि कोई व्यक्ति जल चढ़ाते हुए यह विचार करता है कि यह जल भगवान् को प्राप्त होता है और भगवान् इसको पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं तो यह उस की मिथ्या

धारणा है। इसी प्रकार कोई यदि जल चढ़ाते हुए भौतिक सुख की कामना करता है या क्रोध आदि कषायों से प्रेरित होकर कुछ खोटा विचार करता है या खोटा कार्य करता है तो यह भी पूजा के नाम पर कलंक है। जल पवित्रता का प्रतीक है तो चंदन शीतलता का प्रतीक है, अक्षत-(चावल) अक्षय सुख का प्रतीक है, पुष्प काम बाण नाश करके आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने का प्रतीक है।

नैवेद्य क्षुधा रोग नाश का प्रतीक है, दीप अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने का प्रतीक है, धूप अष्ट कर्म को दहन करने का प्रतीक है, फल मोक्ष सुख प्राप्त करने का प्रतीक है। अर्घ अनर्घ पद प्राप्त करने का प्रतीक है।

उपर्युक्त गुणों को प्राप्त करने के लिये ही उपर्युक्त प्रतीकात्मक द्रव्य चढ़ाये जाते हैं, न कि भगवान् को खिलाने के लिये, खुशामद करने के लिये, उनको संतुष्ट करने के लिये या उनसे वर प्राप्त करने के लिये। हिंदू धर्म में भी कहा है-

अहिंसा प्रथमं पुष्पं, द्वितीयं करण ग्रहः।
तृतीयकं भूत दया, चतुर्थं क्ष्यान्तिरेव च।।
शमस्तु पंचम पुष्पं, दम षष्ठं च सप्तकम्।
ध्यानं सत्यं चाष्ट मं च ह्येतैस्तुष्यति केशवः।।

अहिंसा प्रथम पुष्प है, इन्द्रिय दमन द्वितीय पुष्प है, जीव दया तृतीय पुष्प है, क्षमा चतुर्थ पुष्प है, कषायों का दमनरूप शम भाव को पंचम पुष्प कहते हैं, मन एवं इन्द्रियों का दमन करना षष्ठ पुष्प है, ध्यान सप्तम पुष्प है, सत्य अष्टम पुष्प है। इसके द्वारा पूजा करने से भगवान् (विष्णु) प्रसन्न होते हैं।

आज जैन धर्म में देखने में आने वाले अधिकांश पंथवाद, झगड़ा, फूट, वैमनस्य है वह सब पूजा द्रव्य को लेकर है। रोग शमन के लिये औषध सेवन किया जाता है परन्तु अयोग्य औषध सेवन से रोग शमन नहीं होता है वरन् रोग बढ़ता है। इसी प्रकार पूजा से पाप का संवर होता है पुण्य का बंध होता है परंपरा से मोक्ष भी मिलता है। परंतु अयोग्य प्रणाली से, दूषित भाव से पूजा करने से पाप भी बंध होता है।

मैंने अभी तक जो जैनागम के विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन किया उस में जो पूजा, पूजक, पूज्य, पूजा फल का वर्णन है उसका प्रायः अभाव भावात्मक तथा

आचरणात्मक रूप में वर्तमान में पूजको में तथाकथित धर्मात्माजनों में पाया जाता है। इसलिये मैंने 1990 में धवला, श्रावकाचार, पुराण, सैद्धान्तिक दार्शनिक आदि ग्रंथों के आधार पर ''जिनार्चना'' नामक कृति का संकलन एवं लेखन किया था। उसमें मैंने आगमानुसार जिन अर्चना-पूजन का सविस्तृत वर्णन किया है। वह दो भागों में छपी थी। जिस की मांग अधिक होने के कारण उस का प्रकाशन द्वितीय बार 1995 में हुआ। पूजा संबंधी कुछ महत्वपूर्ण विषय उसमें नहीं होने के कारण एवं उसकी महती आवश्यकता के कारण इस कृति का संकलन एवं लेखन किया गया। इस कृति में मैंने पूर्वाचार्य के ग्रन्थों के माध्यम से कुछ मेरी क्रांतिकारी, तीक्ष्ण विचारधारा का भी संमिश्रण किया है। भले यह विचार धारा कुछ रूढ़िवादियों को कटु लग सकती है परंतु यह यथार्थ-सत्य है एवं हितकारी है। कभी कभी सत्य कटु भी होता है। जिस प्रकार हितकारी औषधि कटु भी होती है। परन्तु मेरी भावना कटु नहीं है अपितु पवित्र है। जिस प्रकार रोगी अबोध बालक कटुक औषधि नहीं पीने पर दयालु विवेकवान् माता उस बच्चे को कटुक औषधि भी जबरदस्ती पिला देती है जिससे उस बच्चे का रोग दूर होता है। उसी प्रकार सच्चे गुरु का कठोर वचन भी भव्यरूपी कमल को विकसित कर देता है। कहा भी है आत्मानुशान में -

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः।।(142)

कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित (आनंदित) करते हैं जिस प्रकार कि सूर्य की कठोर (सन्तापजनक) किरणें कमल की कली को प्रफुल्लित किया करती हैं। किसी कवि ने कहा भी है-

गुरु कुम्हार कुम्भ शिष्य है, गढ़-गढ़ काढ़े खोट।
अन्दर हाथ पसार कर ऊपर मारे चोट।।

कुछ उपदेशक गंगा गए गंगा दास, यमुना गये यमुना दास के समान जहाँ अपनी स्वार्थ सिद्धि होती है वहाँ पर सत्य को भी नकार देते हैं। श्रोता के अनुसार (मतानुकुल) कुछ-कुछ (अन्यथा) बकते जाते हैं परन्तु जो यथार्थवादी, सत्य का पूजक निर्भयी, निस्वार्थी, पापभीरू, निष्पक्ष होते हैं, वे अंतरंग से दया से द्रवित होकर दूसरों के उपकार के लिये कठोर वचन भी कभी-कभी प्रयोग कर लेते हैं।

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा हृयन्तरार्द्रास्ते जयदभ्युज्जिहीर्षवः।।(4)आत्मानुशासन

जिसका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते है। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु। लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा। न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।। (नीति शतक)

नीति निपुण विद्वान् निंदा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा पास की भी चली जाय, आज ही मृत्यु हो अथवा एक युग बाद, परन्तु गम्भीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते।

मैंने इस शास्त्र में आगम के अविरुद्ध स्वपर उपकार के लिये धर्म विरुद्ध कार्यों के परिशोधन के लिए जो कुछ लिखा है उसमें मेरी किसी प्रकार की दूषित भावना नहीं है, पक्षपात नहीं है, कटुता नहीं है द्वेष नहीं, है, तथापि यदि कोई अपनी स्वदूषित भावना से कुछ अयथार्थ विचार करे या कार्य करे उसके लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ। जिस प्रकार सूर्य उदय होने पर भी उल्लू को नहीं दिखाई देता है तो इसमें सूर्य का दोष नहीं परन्तु उल्लू का ही दोष है। मैंने तो पवित्र भावना से यह कार्य किया है जो भव्य है वह तो इससे लाभ ही लेगा, परन्तु जो अभव्य है या जिसका संसार अभी बहुत दूर है वह इसका दुरुपयोग भी कर सकता है। उसके लिए भी मैं उत्तरदायी नहीं हूँ क्योंकि अभी तक जो अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं आगे भी जो अनन्त तीर्थंकर होंगे वे भी संपूर्ण अभव्यों का उद्धार नहीं कर सकते हैं। मैंने तो एक जिनवाणी का अकिंचित्कर सेवक हूँ। जिनवाणी का एवं सत्य का सेवन करना एवं उसका प्रचार प्रसार करना मेरा कर्तव्य है। मैं किसी का ना कर्त्ता हूँ ना धर्त्ता हूँ। यदि आगम विरुद्ध मुझसे कुछ गलती हो गयी हो तो आगम निष्ठ सत्यग्राही सज्जन यदि उस गलती का परिज्ञान मुझे करायेंगे मैं उसका यथायोग्य संशोधन भी करुंगा क्योंकि छद्मस्थ से गलती होना स्वाभाविक है। दूसरों के कोप भाजन के भय से यदि कोई सत्य को स्वीकार नहीं करता है तो वह महान् कायर है, दीन हीन है, पापी है, मिथ्यादृष्टि है। इसलिये

सम्यक्दृष्टि को अहंकारी नहीं बनना चाहिए अपितु सत्य के लिये अचल होना चाहिए, अहिंसक बनना चाहिए परन्तु कायर नहीं, सरल बनना चाहिए परन्तु भौंदू नहीं, अनेकान्तवादी बनना चाहिए परन्तु लुढ़क-पंथी नहीं क्योंकि सत्यग्राही, निर्भयता आदि आत्मा के गुण हैं, आत्मकल्याण के लिए प्रेरक तत्त्व हैं।

जिस प्रकार इस पुस्तक में मैं पूजा संबंधी मिथ्या रुढ़ियों का खण्डन किया है उसी प्रकार मैंने अभी तक प्रायः 77 पुस्तकों में विभिन्न रुढ़ियों का मिथ्याधारणाओं का, असत्यों का परिशोधन किया है। कलेवर वृद्धि के भय से यहाँ विशेष वर्णन नहीं कर रहा हूँ। विशेष जिज्ञासुओं को मेरी 1. धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन, 2. ये कैसे धर्मात्मा निर्व्यसनी राष्ट्रसेवी, 3. आदर्श विचार, विहार आहार, 4. भ्रष्टाचार उन्मूलन आदि पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए।

अभी तक जो भी मेरी कई लाख रुपयों की पुस्तकें छपी हैं वे सब कार्य स्वेच्छा से हुआ है। मेरी अधिकांश का अर्थभार उच्च शिक्षित वर्ग ने ही वहन किया है क्योंकि मेरी पुस्तक किसी रुढ़ि की सीमा में बंधी हुई नहीं है। इसमें शाश्वत सत्य का वर्णन आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से किया गया है। उस सत्य को सिद्ध करने के लिये मैंने जैन धर्म के साथ हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध तथा वैदिक दर्शन एवं आधुनिक विभिन्न विज्ञान का भी उद्धरण दिया है। इसलिए मेरी पुस्तकें जैनियों के साथ-साथ सत्यग्राही बुद्धिजीवी अजैन लोग भी आदर से प्रकाशन करवाते हैं, अध्ययन करते हैं, प्रचार एवं प्रसार करते हैं। कुछ लड़के एवं लड़कियों ने भी अलग-अलग से एवं सामूहिक रूप से मेरी पुस्तकों का प्रकाशन करवाया है।

इस पुस्तक में सहायता करने वाले, छपाने के लिये अर्थ सहायता करने वाले तथा इस पुस्तक को पढ़कर सदुपयोग करने वालों को मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद है।

इस पुस्तक को पढ़कर भव्य जीव भगवान् बने ऐसी महती शुभकामनाओं के साथ।

उपाध्याय कनकनन्दी

प्रथम संस्करण 25.4.1995

अध्याय-1

धर्माराधना का केन्द्र : मन्दिर, देव, शास्त्र-गुरु

जिस प्रकार फलदार वृक्ष से फल के साथ छाया, लकड़ी, फुल, पत्ता, मूल, शीतलता, प्राणवायु आदि मिलती है, वायु प्रदूषण, शब्द प्रदूषणादि दूर होते हैं, प्राकृतिक सौंन्दर्य की वृद्धि होती है उसी प्रकार चैत्यालय (देवालय, जिनालय, जिन मंदिर) से धर्म की प्रभावना होती है, साधुओं के मंदिर में आगमन, निवास होने से उनका दर्शन, उनका प्रवचन, उनकी सेवा, उनकी संगति तथा उन्हें आहार आदि देने का सौभाग्य प्राप्त होता है। धार्मिक व्यक्तियों का वहाँ आगमन होने से, विभिन्न धार्मिक कार्यों का सामूहिक रूप से आयोजन होने से परस्पर में वात्सल्य भाव बढ़ता है, संगठन होता है, सामूहिक रूप से कार्य करने को प्रेरणा मिलती है एवं स्वाध्याय होने से ज्ञानार्जन भी होता है। विभिन्न प्रदेश के विभिन्न भाषा, परम्परा, संस्कृति, रीति-रिवाज आदि का भी ज्ञान होता है, इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रम के कारण मंदिर एक जन-जागृति, जन संस्कार, ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र है। इसलिये कहा है -

निर्माप्य जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं,
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत्।
हिंसारम्भविवर्तितां हि गृहिणां तत्तादृगालम्बन-
प्रागल्भील सदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम्।। (35) सा.ध.

अपनी श्रद्धा तथा शक्त्यनुसार श्रावक को महान् धर्म के कारण स्वरूप जिनबिम्ब, जिनमंदिर, वसतिका, स्वाध्याय भवन अवश्य बनाना चाहिए क्योंकि सतत हिंसादि सावद्य से युक्त कृष्यादिक कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति करने वाले गृहस्थों के लिये जिन प्रतिमादिक तथा जिनबिम्ब के समान तीर्थयात्रादिक सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में प्रौढ़ कारण है तथा अन्तःकरण की विशुद्धि के कारणभूत होने से पुण्य बन्ध का कारण है।

यहाँ कोई यह शंका करे कि जिन मंदिर आदि के बनाने में सावद्य दोष लगता है ''महते धर्मानुबन्धाय'' इस पद से उपर्युक्त शंका का निराकरण हो जाता है। क्योंकि कहा भी है ''तत्पापमपि न पापं स्यात्, यत्र महान् धर्म संबंध!'' अर्थात् जिसके करने

से बड़ा भारी धर्मानुबन्ध होता हो तो वह सावद्य कर्म भी पाप नहीं है। जिन प्रतिमा, जिन मंदिर आदिक धर्म के आयतन हैं। इनके निमित्त से नये धर्म की प्राप्ति और प्राप्त धर्म की रक्षा और रक्षित धर्म की वृद्धि होती है और उसी से धर्म परम्परा चलती है। आरम्भ में आसक्त गृहस्थों के मन में इन आयतनों के निर्माण के आलम्बन से मन में एक प्रकार का अपने जीवन में सत्कृत्य सम्बन्धी गौरव का अनुभव करने वाला स्वाभिमान रस से युक्त परिणाम होता है और उन परिणामों में से उनको पुण्यबन्ध होता है। आरम्भ में फँसे रहने वाले श्रावकों के मन में जिनमंदिर आदिक के निर्माण कराने से ''हमारे जीवन में अमुक सत्कृत्य बन गया,'' **इस प्रकार के जिन मंदिरादि निर्माणरूपी सुकृत्यके अवलम्बन से होने वाले ''आभिमानिक'' धर्म हर्ष युक्त मन से हमेशा पुण्यबन्ध होता रहता है।**

उक्तंच-

यद्यत्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसम्भवः,
तथाऽप्यत्त कृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते।
निरालम्बन धर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्,
मुक्ति प्रासाद सोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः।।(7)

यद्यपि मंदिर के बनवाने में आरंभ में हिंसा होती है और हिंसा से पापबन्ध होता है तथापि जिनेन्द्र मंदिर बनवाने में जो आरंभ होता है उसके करने वाले को महान् पुण्य का लाभ होता है, कारण धर्म निरालम्बन है। उसकी स्थिति सज्जनों के द्वारा मंदिर से होती है, इसलिये आप्त गणधरादिकों ने मुक्तिरूपी महल की प्राप्ति के लिये जिनालयों को सीढ़ियों की उपमा दी है। जैसे सीढ़ी से महल पर चढ़ते हैं वैसे जिनालय के आधार पर मुक्ति तक के अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

जिनचैत्यादिक की आवश्यकता-

धिग्दुष्षमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा मतिः।। (36)

दूर्निवार मोह (मिथ्यात्व) के वृद्धि के कारणभूत इस मरण रात्रि के समान दुषमा नामक पंचमकाल को धिक्कार हो। इस पंचमकाल में शास्त्ररूपी नेत्र को धारण करने वाले ज्ञानीजन की मति भी जिनबिम्ब के दर्शन बिना अनन्यशरणीभूत होकर

परमात्मा का आश्रय नहीं लेती है। इस श्लोक में प्रायः शब्द है। उससे यह ध्वनित होता है किन्हीं ज्ञान, वैराग्य परायणों की बुद्धि जिनबिम्ब के दर्शन के बिना भी परमात्मा का ध्यान कर सकती है। साधारण जनों की नहीं। यहाँ पर पंचमकाल को कालरात्रि (मरणरात्रि) की उपमा दी है और चैत्य को आलोक (प्रकाश) की उपमा दी है। जैसा कालरात्रि में मोह का वेग पसरता है उसी प्रकार इस पंचमकाल में मोह का वेग पसरता है।

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण-
स्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगण धर्माश्रमपदं,
न यत्रार्हद्गेहं दलित कलिलीला विलसितम्।। (37)

जहाँ मंदिर होते है वहाँ उनके निमित्त से धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं। उन धार्मिक उत्सवों में धर्मात्मा लोगों के एकत्र होने से जनसमूह से बड़ा धर्म प्रचार होता है। धर्म के विषय में उत्साह रस बहता है और उससे धर्मात्माओं के पापों का प्रक्षालन होता है। यदि पंचमकाल की लीला के विलास को दलित करने वाले तथा श्रमणगणों का आश्रय स्थान और धर्म का आयतन ऐसे जिनमंदिर ने होवे तो उनके निमित्त से होने वाली उपरोक्त बातें कैसे हो सकती हैं?

कलिकाल में वसतिका आदि के बिना सज्जन पुरुष भी अनवस्थित चित्त रहते हैं यह बताते हैं-

मनो मठकठेराणा वात्ययेवानवस्थया।
चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु।। (38)

इस कलिकाल में वायुमंडल से प्रेरित हुये रुई के समान परस्पर रागादि परिणति से चंचल हुआ अरण्यवासी मुनियों का मन भी धार्मिक क्रियाओं में स्थिर नहीं होता है - इसलिये जिनमंदिर के समान यतियों के रहने के लिये मुनि वसतिका अवश्य बनाना चाहिये। जिसमें रहकर महाव्रती साधु अपने चारित्र का निर्मलरूप से पालन कर सकें।

स्वाध्याय शाला के बिना उपाध्याय गुरु आदि को भी शास्त्र का अन्तस्तत्व मर्म के ज्ञान की स्थिरता रहना कठिन है -

विनयेवद्विनेतृणामपि स्वाध्यायशालया।
विना विमर्शशून्या धीर्दृष्टेष्यन्धायतेऽध्वनि।। (39)

जिस प्रकार शिष्यों की बुद्धि गुरुउपदेश बिना श्रेयोपमार्ग में अन्धे के समान आचरण करती है अर्थात् श्रेयोमार्ग में प्रवेश नहीं करती, उसी प्रकार स्वाध्याय शाला के बिना तत्त्व को विचारणामार्ग नहीं रहने से, परामर्शशीलता के साधनाभाव में परिचित विषयों में भी अर्थात् अभ्यस्त भी शास्त्र या मोक्षमार्ग के विषय में अन्धे के समान आचरण करती है अर्थात् संशययुक्त हो जाती है। इसलिये प्रज्ञावन्त मुमुक्षुपुरुषों को स्वपरात्महित के साधनभूत जिनबिम्ब, जिनमंदिर, मुनियों के रहने की वसतिका और स्वाध्यायशाला अवश्य बनाना चाहिए। क्योंकि जिनबिम्ब, जिनमंदिर सम्यग्दर्शन के साधन हैं। स्वाध्यायशाला ज्ञान की साधन है और वसतिका चारित्र की साधन है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के साधन हैं।

गृहस्थ अन्य बह्वारम्भ तो करते ही हैं इसलिये उनकी अनुकम्पा तथा जीवों पर अनुग्रहबुद्धि से भोजनशाला एवं औषधालय बनवाना और जिन पूजन के लिये बगीचा आदि निर्माण कराना दोष नहीं है, यह बतलाते हैं।

सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया।
चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेजायै वाटिकाद्यपि।। (40)

पाक्षिकश्रावक अनुग्रह बुद्धि से बुभुक्षितों के लिये व रोगियों के लिये अन्न क्षेत्र खोले। 'अपि' शब्द से प्याऊ खोले तथा जैसे औषधालयों की स्थापना आरंभ का साधन होने पर भी दोषदायक नहीं है वैसे ही जिनभगवान् की पूजा के लिये आवश्यक पुष्प व फलों के लिये बगीचों का लगाना भी दोषजनक नहीं है। यहाँ भी अपि शब्द से कुआँ, बावड़ी आदि का भी ग्रहण है। अथवा यहाँ अपि शब्द अनादरवाचक है। इसलिये अपने लिये कृषि आदि षट्कर्म करने वाले गृहस्थ के लिये धर्म बुद्धि से बगीचा लगवाना लोकव्यवहार से दोष नहीं हो सकता तथापि कीमत से लगाकर पुष्पों से पूजा करने का मार्ग श्रेष्ठ है। यहाँ पर अभिप्राय का भी दर्शक अपि शब्द ही है।

निष्कपट भक्ति से जिस किसी प्रकार से जिन भगवान् को पूजने वालों के सर्व दुःख दूर होते हैं, सम्पूर्ण इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश देते हैं।

यथाकथञ्चिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम्।
नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान्दुहन्ति च।। (41)

अभिषेक पूजा स्वतन आदि किसी भी प्रकार से माया रहित होकर सरल भावों से जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने वाले भक्तों के शारीरिक मानसिक सम्पूर्ण आधि, व्याधि रूप दुःख नष्ट हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण दिशायें जिनभक्त को इच्छित फल देने वाली हो जाती है। अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के भावपूर्वक भक्ति करने से अनिष्ट का परिहार और इष्ट की प्राप्ति होती है। जहाँ तक हो वहाँ तक उत्तम से उत्तम सामग्री से भगवान् की पूजा करनी चाहिये। सामग्री के अभाव में जितनी सामग्री मिले उतने से ही पूजा करने वाले को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जिनपूजन विधान का उपदेश करके सिद्ध पूजा, साधु पूजा आदि का भी उपदेश करते हैं।

जिनानिव यजन्सिद्धान्साधून्धर्मं च नन्दति।
तेऽपि लोकोत्तमास्तदृच्छरणं मगंलं च यत्।। (42)

जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला अन्तरंग और बहिरंग विभूति से संवर्धित होता है अर्थात् उसकी अन्तरंग और बहिरंग विभूति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है। उसी प्रकार सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और रत्नत्रय रूप निश्चय व्यवहार धर्म की पूजा आराधना करनेवाले के भी अंतरंग सम्यग्दर्शनादि विभूति तथा स्वर्गादि बहिरंग विभूति विधिगत होती है। क्योंकि जिन्होंने अपने धर्म को सिद्ध किया है ऐसे सिद्ध भगवान् तथा साधु भी जिनेन्द्र के समान लोक में उत्कृष्ट हैं। दुःख के नाशक अपाय से रक्षक के उपाय होने से शरण रूप तथा पाप के नाशक और पुण्यवर्धक होने से मंगलरूप हैं।

सम्पूर्ण पूज्य और पूजा के विधि का प्रकाशन करते हैं सम्यग्श्रुत देवता की आराधना का विधान करते हैं।

यत्प्रसादात्र जातु स्यात् पूज्य पूजा व्यतिक्रम।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोडअमरां गिराम्।। (43)

जिस जिनवाणी के अनुग्रह से पूज्य ''अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और रत्नत्रय धर्म'' का तथा पूजा की विधि का उल्लंघन नहीं हो सकता अर्थात्

पूज्य और पूजा का ज्ञान जिससे होता है, अतः 'स्यात्' पद के प्रयोग से सर्वथा एकांत वाद से अजेय, हितोपदेशी होने से जगत्पूज्य ऐसी जिनवाणी की भी पूजा करनी चाहिये। पूजा की यथोक्त विधि का उल्लंघन होना व्यतिक्रम है। जिनवाणी के द्वारा शास्त्रज्ञान होने से विधि का उल्लंघन नहीं होता है।

श्रुत पूजक और जिनपूजक में परमार्थ से कोई अन्तर नहीं
ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहु-राप्ता हि श्रुतदेवयोः।। (45)

जो मानव भक्तिपूर्वक जिनवाणी की पूजा करते हैं वे निश्चय से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं क्योंकि गणधर देव ने जिनवाणी और जिनेन्द्र देव में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है अर्थात् जो श्रुत है वह देव है, जो देव है वह श्रुत है।

इस प्रकार देवपूजा की विधि का संक्षेप से उपदेश देकर साक्षात् उपकारी होने से गुरु की उपासना में नित्य नियुक्त करते हैं -

उपास्या गुरवो नित्य-मप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्षताक्ष्र्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तराः।। (45)

मुमुक्षु पुरुषों को प्रमादरहित होकर निरंतर धर्माराधना में तत्पर धर्म गुरुओं की सेवा, आराधना करनी चाहिये क्योंकि जिस प्रकार गरुड़ के पास में सर्प नहीं आते हैं अर्थात् जिसके पास गरुड़ हैं उसको विषधर सर्प नहीं काट सकता, उसी प्रकार गुरु की भक्तिरूपी गरुड़ जिनके हृदय में है, उनको धर्मानुष्ठान में आने वाले विघ्नरूपी सर्प काट नहीं सकते अर्थात् उनको कभी भी धर्म कार्यों में विघ्न नहीं आ सकते हैं।

गुरु उपासना की विधि बताते हैंः-

निर्व्याजया मनोवृत्या सानुवृत्या गुरोर्मनः।
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरञ्जयेत्।। (46)

कल्याण चाहने वाले मनुष्य गुरु के मन को विनय आदि के द्वारा अनुरंजित करे। विनय तीन प्रकार के होते हैं।

कायिक विनय - गुरु के सम्मुख आते समय 'उठके खड़े होना, चलते समय पीछे-पीछे चलना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना आदि कायिक विनय कहलाते हैं।'

वाचनिक विनय-उनके प्रति हित प्रिय वचन प्रतिपादन करना व नम्रता से बोलना वाचनिक विनय है।

मानसिक विनय-हमेशा गुरुओं के विषय में शुभ चिंतवन करना मानसिक विनय है। इस प्रकार मन, वचन और काय के विनय से गुरु को अपने प्रति प्रसन्न करें। जैसे राजा के साथ राजा के हृदय में स्थान करके विनयपूर्वक व्यवहार किया जाता है, वैसे ही गुरु के मन को भी अपनी छल कपट रहित और गुरु के अनुकूल मनोवृत्ति बनाकर उनके हृदय में अपना गुणानुरागी स्थान बनाकर यथाहित व्यवहार करें, जैसे राजा के सेवक वर्ग राजा की प्रसन्नता के अनुसार सेवा करते हैं।

विनय से गुरु के मन को अनुरंजित करें इसी अर्थ को विशेष रूप से कहते हैं-

पार्श्वे गुरुणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत्।। (47)

जिस प्रकार राजा के निकट में हास्यादि विकारी चेष्ट करना निषेध है। उसी प्रकार उपासक श्रावक को भी गुरुओं के समीप में अपनी स्वाभाविक क्रियाओं को छोड़ करके क्रोध, हास्य, विवाद आदि में विकारी क्रियायें तथा शास्त्र निषिद्धि पर्यस्तिका (बैठना) उपाश्रयादि सम्पूर्ण क्रियाओं को छोड़ देना चाहिये अर्थात् ऐसी चेष्टा गुरु के सामने नहीं करना चाहिये और जिस कार्य से गुरु के मन में आर्त्त रौद्र ध्यान हो ऐसा कार्य भी नहीं करना चाहिये।

निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभञ्जनम्।
असत्यभाषणं नर्महास्यं पादप्रसारणम्।।
अभ्याख्यान करस्फोट करेण करताडनम्।
विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ।।

गुरु के समीप में थूकना, अंगड़ाई लेना, जंभाई लेना, शरीर को तोड़ना, असत्य भाषण करना, हँसी मजाक करना, पैर फैलाकर बैठना, लड़ाई करना, ताली बजाना चुटकी बजाना, अंग में विकार उत्पन्न करना, अंग का संस्कार करना आदि चेष्टायें नहीं करनी चाहिये।

अध्याय - 2

जिन-दर्शन = निज-दर्शन

जो अरिहंत के माध्यम से स्वयं को जानता है उसका मोह नाश होता है-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (80)

He who knows the aythantas with respect of substantiality, quality and modification, a realizes himself, and his delusion, in fact, dwindles into destruction.

अथ ''चत्तापावारंभं'' इत्यादि सूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावेन शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति।

जो जाणदि अरहंतं कर्त्ता जानाति। कैः? अर्हन्तं। कैः कृत्वा? दक्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः सो जाणदि अप्पाणं स पुरुषोऽर्हपरिज्ञानात्पश्चादात्मानं जानाति मोहो खलु जाइ तस्स लयं तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लयं विनाशंक्षयं यातीति। तद्यथा-केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादयः सामान्यगुणाः, परमौदारिक शरीराकारेण यदात्म प्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुकगुणषड् वृद्धिहानि रुपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः एवं लक्षणगुणपर्यायाधारणभूतममूर्तसंख्यात् प्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति, इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुख रूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवागमभाषयाधः प्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्ति करणंसंज्ञं दर्शनमोह क्षपण समर्थ परिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति। तदनन्तरविकल्प स्वरूपरूपे प्राप्ते, यथा पर्याय स्थानी यमुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाभेदनयेन हार एव, तथापूर्वोक्त द्रव्यगुण पर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकार प्रलीयते। इति भावार्थः।।

आगे ''चत्तापावारंभं'' इत्यादि सूत्र से जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोग के बिना मोह आदि का नाश नहीं होता है और मोहादि के नाश के बिना शुद्धात्मा का लाभ नहीं होता है, उस ही शुद्धात्मा के लाभ के लिये अब उपाय बताते हैं-

(जो) जो कोई (अरहंतं) अरहंत भगवान् को (दव्वत्तगुणत्तपज्जयतेहिं)

द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपने को (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि) अरहंत के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्मज्ञान के प्रताप से (तस्समोहो) उस पुरुष का दर्शन मोह (खलुलयं जादि) निश्चय क्षय हो जाता है।

इसका विस्तार यह है कि अरहंत आत्मा के केवलज्ञान आदि विशेषगुण हैं, अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं, परम औदारिक शरीर के आकार जो आत्मा के प्रदेशों का होना सो व्यंजन पर्याय हैं। अगुरुलघु-गुण द्वारा छः प्रकार वृद्धि हानि से वर्तन करने वाली अर्थ पर्याय हैं। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायों के आधाररूप, अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमई अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। द्रव्य गुण पर्याय को आगम की सारभूत जो आध्यात्मभाषा है, उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्मा की भावना के सन्मुख होकर अर्थात् विकल्प सहित स्वसंवेदन ज्ञान में परिणमन करते हुए तैसे ही आगम की भाषा में अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, नाम के परिणामविशेषों के बल से जो विशेष भाव दर्शनमोह के अभाव करने में समर्थ हैं, अपने आत्मा में जोड़ता है। उसके पीछे निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति के लिये जैसे पर्याय रूप से मोती के दाने, गुणरूप से सफेदी आदि अभेद नय से एक हार रूप ही मालूम होते हैं, तैसे पूर्व में कहे हुए द्रव्य गुण पर्याय अभेद-नय से आत्मा ही है, इस तरह भावना करते-करते दर्शन मोह का अंधकार नष्ट हो जाता है।

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स
खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेना विशेषात्।

अर्हंतोऽपि पाककाष्ठागत कार्तस्वरस्येव परिस्पष्टात्मात्म ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्म परिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः अन्वयतिरेकाः पर्यायाः। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति। यश्चेतनोयमित्यन्वय स्तद्द्रव्यं, यच्चान्वययाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिणाम तथा परस्परवृता अथैन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तन ग्रन्थय इति यावत्। अर्थवमस्य त्रिकालमप्येक कालभाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एवं संक्षिप्य विशेषणविशेषयत्ववासनान्तर्धानाद्धव लिमानमिव प्रालम्बे चेतन एवं

चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्द तस्तदुत्तरोत्तरक्षणयिमानकर्तृ कर्मयाविविभागया निःक्रियं चिन्मात्रं भावमिधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मला लोकास्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धोमया मोहवाहिनी विजयोपायः।

समीक्षा : जीव एक द्रव्य है। जीव द्रव्य होने के कारण उसमें गुण भी हैं और पर्यायें भी हैं। शुद्ध जीव का स्वरूप एक समान होते हुए भी संसारी जीव की अवस्थायें कर्म सापेक्ष होने से विभिन्न ही हैं। गुणस्थान की अपेक्षा मध्यम प्रतिपत्ति से इसके 14 भेद हैं। संक्षिप्त रूप से अन्य प्रकार से देखने पर इसके 3 भेद भी है यथा-

बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्व देहिषु
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यत्यजेत्।। (14) स.श.

सर्व प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्म और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार हैं। परमात्मा के उन तीनों भेदों में से अन्तरात्मा के उपाय द्वारा परमात्मा को अंगीकार करें - अपनावें और बहिरात्मा को छोड़ें।

छहढाला में भी कहा है -

बहिरातम अन्तराआतम परमातम जीव त्रिधा है।
देह जीव को एक गिनै बहिरातमतत्त्व मुधा है।
उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आत्म ज्ञानी।
दुविध संग बिन शुभ-उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी
मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती आगारी।
जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग चारी।।
सकल निकल परमात्मा द्वैविध, तिन में घाति निवारी।
श्री अरहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी।।
ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगे शर्म अनन्ता।।
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरन्तर, ज्यों निज आनंद पूजै।।

अरहंत भगवान् भी एक चैतन्य द्रव्य हैं, उनके अनंत ज्ञानादि अनंत गुण हैं एवं 13वें गुणस्थानवर्ती शुद्धवस्था (पर्याय) भी हैं। जो व्यक्ति अरिहंत भगवान् को द्रव्यदृष्टि गुणदृष्टि एवं पर्याय दृष्टि से अवलोकन करते हुए स्वयं स्वरूप का अवलोकन करता है, वह स्वस्वरूप को भी जान लेता है। इसलिये पूज्यपाद स्वामी ने कहा है ''श्री मुखलोकनदेव श्री ने मुखावलोकन भवेत्।''

अर्थात् जो भगवान् के श्री मुख का दर्शन करता है वह श्री अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी का दर्शन करता है। इसलिये जिन दर्शन निज दर्शन है।

भक्त जब भगवान् के पास जाता है तब वह भगवान् के स्वरूप रूपी दर्पण से अपने स्वरूप का दर्शन करता है। जब वह द्रव्य दृष्टि से स्वयं को एवं भगवान् को देखता है तब दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि पूज्य भी जीव द्रव्य है तथा पूजक भी जीव द्रव्य है। गुणदृष्टि से भी कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता है किन्तु जब पर्याय दृष्टि से अवलोकन करता है तब दोनों में महान् अन्तर परिलक्षित होता है क्योंकि भगवान् पर्याय दृष्टि से अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के भण्डार हैं एवं पूजक स्वयं अनन्त, अज्ञान दुःखादि को भोगने वाला है।

अंग्रेजी में एक वाक्य हैः-

There is no difference between God and us.

But there is so difference between God and us.

अर्थात् द्रव्य दृष्टि से भगवान् और हमारे में कोई अन्तर नहीं है किन्तु अवस्था दृष्टि (पर्याय दृष्टि) से भगवान् और हमारे में महान् अन्तर है। भक्त भगवान् के पास एक अलौकिक उपादेय प्रशस्त स्वार्थ को लेकर जाता है। उसका अर्थ यह है कि मेरा स्वरूप भगवान् स्वरूप होते हुए भी मैं दीन-हीन भिखारी के समान् हूँ। मैं भगवान् के पास से वही शिक्षा प्राप्त करूँ जिस मार्ग पर चलते हुए भगवान् ने इस परमोत्कृष्ट नित्यानन्द अवस्था को प्राप्त किया है। इसलिये भक्त की आद्यन्त भावना एवं परिणति निम्न प्रकार की होती है-

दासोऽहं रटता प्रभो! आया जब तुम पास।
'द' दर्शत हट गयो, सोऽहं रहो प्रकाश।।
'सोऽहं सोऽहं' ध्यावतो रह न सको सकार।

दीप 'अहं' मय हो गयो अविनाशी अविकार।।

जब भक्त भगवान् के पास आता है तब वह स्वयं को दास (पूजक) एवं भगवान् प्रभु (पूज्य) मानता है। तब भगवान् का दर्शन करके भगवान् का स्वरूप एवं स्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण करता है तब वह पूज्य के गुणों का अनुकरण करके आध्यात्मिक साधना करता है तो उस साधना के फलस्वरूप निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करता है तब सोऽहं रूप विकल्प भी विलय हो जाता है। तब 'अहं' रूप अविनाशी, अविकारी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही पूजा का परमोत्कृष्ट फल है। आचार्य प्रवर उमास्वामी ने कहा है, ''वंदे तद्गुण लब्धये'' अर्थात् मैं वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान् को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये वन्दना करता हूँ।

वीरसेन स्वामी ने कहा है कि जो अरहंत की प्रतिमा के भी दर्शन करता है उसका मोहनीय कर्मक्षय होता है जिससे जिनबिंब दर्शन से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कहा है। जैसे- अंकुर की भूत पर्याय बीज है और भविष्यत् पर्याय वृक्ष है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भूत पर्याय मिथ्यात्वावस्था है और भविष्यत् पर्याय भगवान् अवस्था है। भव्य भावी भगवान् है तो भगवान् भूत भव्य है। जैसे बालक भावी प्रौढ़ मानव है और प्रौढ़ मानव भूत बालक है। इसलिये जो आत्मा है वही परमात्मा है।

समाधितंत्र में पूज्यपाद ने भी कहा है-

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।(31)

अन्तरात्मा विचारता है कि जो परमशुद्ध परमात्मा है वही मैं हूँ जो मैं हूँ वह परमात्मा है। इस कारण मेरे द्वारा, मुझसे, मैं ही उपासना, ध्यान करने योग्य हूँ, कोई अन्य पदार्थ उपासना करने योग्य नहीं है। ऐसी परिस्थिति व्यवस्था है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी।।(97)

अपने आत्मा से भिन्न अरहंत, सिद्ध भगवान् की उपासना-आराधना करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाता है। जैसे दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानि साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।

मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।(98)

अथवा अपना आत्मा अपने आत्मस्वरूप को ही आराधना चिन्तवन करके परमात्मा हो जाता है जैसे अपने आप को ही रगड़कर बाँस का पेड़ स्वयं ही अग्नि हो जाता है।

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिँ णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ।।(गा. 26)

परमात्म प्रकाश

जैसा- केवलज्ञानादि प्रकटस्वरूप कार्यसमयसार उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप मल से रहित केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप सिद्ध परमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकर शक्ति रूप परमात्मा शरीर में तिष्ठता है, इसलिये हे प्रभाकर भट्ट तू सिद्ध भगवान् में और अपने में भेद मत कर।

जो दिट्ठे तुट्टंति लहु कम्मइं पुव्व कियाइँ।
सो परु जाण हि जोइया देहि वसंतु ण काँई।।(27)

जिस आत्मा को सदा आनंद रूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रों कर देखने से शीघ्र ही निर्वाण को रोकने वाले पूर्व उपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्ज्ञान के अभाव से भी जो पहले अशुभ कर्म कमाये थे, वे निजस्वरूप के देखने से ही नाश हो जाते हैं, उस सदानंदरूप परमात्मा को देह में बसते हुए भी हे योगी! तू क्यों नहीं जानता।

देहादेवलजी जो बसइ देउ अणाइ-अणंतु।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु।।(33)

जो व्यवहारनयकर देहरूपी देवालय में बसता है निश्चय नयकर देह से भिन्न है देह की तरह मूर्तिक तथा अशुचिमय नहीं है महापवित्र है, आराधने योग्य है, पूज्य है। देह आराधने योग्य नहीं है। जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है तथा देह आदि अन्त कर सहित हैं, जो आत्मा निश्चय नयकर लोक अलोक को प्रकाशने वाले केवल ज्ञान स्वरूप है अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह जड़ है वही परमात्मा निःसंदेह हैं, इसमें कुछ संशय नहीं समझना।

बुज्झंतहँ परमत्थु जिस गुरु लहु अत्थि ण कोइ।
जीवा सयलवि बंभु परु जेण वियाणइ सोई।।(94) प.

हे जीव, परमार्थ को समझने वालों के कोई जीव बड़ा छोटा नहीं है, सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप हैं, क्योंकि निश्चयनय से वह सम्यग्दृष्टि शुद्ध जीव स्वरूप सबको जानता है।

जो भत्तउ-रयण-त्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ।
अच्छउ कहिं वि क्कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ।।95

जो मुनि रत्नत्रय की आराधना करने वाला है, उसके यह लक्षण जानना कि किसी शरीर में जीव रहे, वह ज्ञानी उस जीव का भेद नहीं करता, अर्थात् देह के भेद से गुरुता-लघुत्ता का भेद करता है, परन्तु ज्ञान दृष्टि से सबको समान देखता है।

जीवहँ तिहुयण संठियहं मूढा भेउ कंरति।
केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति।।(96)

तीन भुवन में रहने वाले जीवों का मूर्ख ही भेद करते हैं-
और ज्ञानी जीव केवल ज्ञान से प्रकट सभी जीवों को समान जानते हैं।

जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण विमुक्क।
जीव-पएसहिं सयल सम सयल वि सगुणहिं एक्क।।97।।

सभी जीव ज्ञानमयी हैं, और अपने अपने प्रदेशों से सब समान हैं, सब जीव केवलज्ञानदि गुणों से समान हैं।

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण णाणु।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु।।98।।

जीवों का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने दर्शन और ज्ञान कहा है, इसलिए उन जीवों में भेद मत कर, अगर तेरे मन में ज्ञान रूपी सूर्य का उदय हो गया है, अर्थात् हे! शिष्य, तू सबको समान जान।

बंभहँ भुवणि वसंताहँ, जे णवि भेउ करंति।
ते परमप्प पयासयर जोइय विमलु मुणंति।।99।।

इस लोक में रहने वाले जीवों का भदे नहीं करते हैं, वे परमात्मा के प्रकाश

करने वाले योगी, अपने निर्मल आत्मा को जानते हैं।

देह विभेयइ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचित्तु।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु।।102।।

जो शरीरों के भेद जीवों का नानारूप भेद करता है, वह उन जीवों का दर्शन ज्ञान चारित्र लक्षण नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणों की परीक्षा (पहचान) नहीं है।

जेण सरुविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।
तेण सरुविं परिणवइ जह-फलिहउ-मणि-मंतु।।173।।

यह प्रत्यक्षरूप अविनाशी आत्मा जिस स्वरूप से ध्याया जाता है, उसी स्वरूप परिणमता है, जैसे स्फटिक मणि और गारुडी मंत्र हैं।

एहु जु अप्पा सो परमाप्पा कम्म विसेसें जायउ जप्पा
जामइँ जाणइ अप्पैं तामइँ सो जि देउ परम्प्पा।।174।।

यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञान कर प्रत्यक्ष जो आत्मा वही शुद्धनिश्चयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहारनयकर अनादि कर्म-बन्ध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है, परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनकर अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मा देव है।

जो परमात्मा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु।।175।।

जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है वह मैं ही हूँ जो कि अविनाशी देवस्वरूप हूँ जो मैं हूँ वही उत्कृष्ट परमात्म है। निःसन्देह तू भावना कर।

जो जीणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंवहँ सारु।
हउ जाणेविणु जोइयहो छंडहु मायाचारु।।21।।

जो जिन भगवान् है वही आत्मा है यही सिद्धांत का सार समझो। इसे समझकर हे! योगीजनों मायाचार को छोड़ो।

जो परमाप्पा सो जि हउँ जो हउँ सो परमप्पु।।22।
इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु।। योगसार (4)

जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है यह समझकर हे! योगिन्! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो।

तो तइलोयइँ झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु।
णिच्छय-णइँ। एमइ भविउ एहउ जाणि णिभंत्तु।।28।।

जो तीन लोकों के ध्येय जिन भगवान् है, निश्चय से उन्हे ही आत्मा कहा है यह कथन निश्चय से है। इसमें भ्रांति नहीं करनी चाहिए।

जं बडमज्झएँ बीउ फुडु बीयहं बडु वि हु जाणु।
तं देहहँ देउ वि मुणाहिं, जो तइलोय पहाणु।।74।।पृ.376।।

जैसे बड़ के वृक्ष में बीज दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही बीज में भी बड़ वृक्ष रहता है। इसी तरह देह में उसदेव को विराजमान समझो जो तीनों लोकों में मुख्य है।

जा जिण सो हउँ सो जि हउँ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।।75।।

जो जिनदेव है वह मैं हूँ इसकी भ्रांति रहित होकर भावना कर। हे योगिन्! मोक्ष का कारण कोई अन्य यंत्र तंत्र नहीं है।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होति।
जरमरण जम्ममुक्का अट्ठगुणा लंकिया जेण।।44।।नि.सा. पृ. 136

सिद्ध भगवान् जैसे हैं, भव के आश्रित हुए जीव वैसे ही हैं। जिस हेतु से ये जरा मरण और जन्म से रहित है उसी से ये आठ गुणों से अलंकृत हैं।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।48।।

अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा सिद्ध भगवान् जैसे लोक के अग्रभाग पर है, वैसे ही संसारी जीव में हैं।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्चय भणिदा हु।
सव्वे सिद्ध सहावा सुद्धाणया संसिदी जीवा।।49।।

वे सभी जीव व्यवहारनय का आश्रय लेकर कहे गये हैं। किन्तु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

केवल णाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।

केवलसत्तिसहावो, सोहं दिति चिंत्तए णाणी।।76।।

जो केवल ज्ञान स्वरूप है, केवलदर्शन स्वभाव है, केवल सुखमय है और केवलवीर्य स्वभाव है सो ही मैं हूँ ऐसा ज्ञानी चिंतवन कर।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्यमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।।20।।

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव को और विविधता में एकता को देखता है उसे सात्विक ज्ञान जान।

अध्याय - 3

''यथार्थ से हमारे पूज्य''

पूजा, वन्दना, प्रार्थना देव-दर्शनादि का परम लक्ष्य मोह होने के कारण एवं मोक्ष स्वयं के आत्मा की चरम पवित्र-अवस्था होने के कारण स्व आत्मा को पवित्र करना, परिमार्जन करना ही पूजा है। अन्य प्रकार से या निश्चय नय से इस ही प्रक्रिया को स्व-आत्मा की उपासना/सेवा/पूजा/आराधना/आत्म कल्याण/आत्म कीर्तन/समाधि आदि कहते हैं। पूर्व आचार्यों ने कहा भी है -

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।

ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइयो णियो अप्पा।।(39) द्र.सं.

श्री वीतराग सर्वज्ञ ने कहे हुए जो छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ हैं, इनका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और व्रत आदि का मोक्षमार्ग है और जो अपने निरंजन शुद्ध आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्रपरिणति रूप है वह निश्चय मोक्षमार्ग है अथवा धातु पाषाण के विषय में अग्नि के सदृश जो साधक है वह तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण के स्थानापन्न निर्विकार जो निज आत्मा है उसके स्वरूप की प्राप्तिरूप जो साध्य है उस स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग के लक्षण को जानना चाहिए।

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।

तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा।।40।।

राग आदि विकल्पों की उपाधि से रहित जो चित्त चमत्कार की भावना से उत्पन्न मधुर रस (अमृत) है उसके आस्वाद रूप सुख का धारक मैं हूँ इस प्रकार निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है। और इस पूर्वोक्त सुख का जो राग आदि समस्त विभाव है उनसे स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा भिन्न करना अथवा जानना है जो सम्यग्ज्ञान है और इसी प्रकार देखे, सुने और अनुभव किये हुए जो भोग उनमें वांछा करना आदि जो समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ हैं उनसे उत्पन्न हुए संकल्प विकल्पों के त्याग से उसी सुख में संतुष्ट तथा एक आकार का धारक जो परम समता भाव उससे चलायमान चित्त का बारम्बार स्थिर करना सम्यक् चारित्र है तथा वही निजशुद्ध आत्मा को ही मुक्ति का कारण जानो।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।

लद्धूणय एयत्तं तदम्हु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं।।55।।

ध्यान की, प्रथम ही आरम्भ करने की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पंचपरमेष्ठी आदि जो पर द्रव्य है वे भी ध्येय होते हैं, फिर जब अभ्यास के वश से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो निज शुद्ध आत्मा है उसका स्वरूप ही ध्येय होता है यह कहा गया है और निस्पृहवृत्ति होकर यह जो वचन है इससे मिथ्यात्व 1. पुंवेद 2. स्त्रीवेद 3. नपुंसकवेद 4. हास्य 5. रति 6. अरति 7. शोक 8. भय 9. जुगुप्सा 10. क्रोध 11. मान 12. माया 13. और लोभ 14. इन रूप चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह से रहित तथा इसी प्रकार क्षेत्र 1. वास्तु 2. हिरण्य 3. सुवर्ण 4. धन 5. धान्य 6. दासी 7. दास 8. कुप्य 9. और भाण्ड 10. नाम दशप्रकार के बहिरंग परिग्रह से रहित ध्यान करने वाले का स्वरूप कहा गया है और एकाग्रचिन्ता निरोध को प्राप्त होकर इन कथन से पूर्वोक्त नाना प्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थों में निश्चलपन है उसको ध्यान का लक्षण कहा गया है और इसे ही निश्चय ध्यान कहते हैं। यहाँ पर जो निश्चयपना है उसको अभ्यास करने वाले पुरुष की अपेक्षा से तो व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये और जिसके ध्यान से तो व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये और जिसके ध्यान सिद्ध हो गया है ऐसे पुरुष की अपेक्षा से शुद्धोपयोग रूप लक्षण का धारक

विवक्षितैक कदेश शुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिये।

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।56।।

ज्ञानी जनो! ''मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि'' नित्य निरंजन और क्रियारहित ऐसा जो निजशुद्ध आत्मा का अनुभव है उसको रोकने वाला जो शुभ अशुभ विकल्पों के समूह रूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो ''जेण होइ थिरो'' जिन मन, वचन और कायस्वरूप तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है। वह कौन? ''कौन'' आत्मा। कैसा स्थिर होता है? अप्पम्मि रओ सहज शुद्ध ज्ञान और दर्शन स्वभाव को धारण करने वाला जो परमात्मतत्त्व है उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करने योग्य से जो अभेद रत्नत्रय है उस स्वरूप जो परम ध्यान है उससे उत्पन्न और सब प्रदेशों को आनन्द पैदा करने वाला ऐसा जो सुख उसके आस्वद रूप परिणति सहित निज आत्मा में परिणत, तल्लीन, तन्मय और तच्चित होकर स्थिर होता है। ''इणमेव परं हवे झाणं'' यही जो आत्मा के सुख में परिणमन होता है वह निश्चय से परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान होता है।

वही परमब्रह्मस्वरूप है वही परमविष्णुस्वरूप है, वही परम शिवस्वरूप है, वही परमबुद्ध स्वरूप है वही परमनिजस्वरूप है, वही परम निज आत्मा की प्राप्ति रूप लक्षण का धारक जो सिद्ध है उस रूप है, वही निरंजन रूप है, वही निर्मल (कर्ममल रहित) स्वरूप का धारक है, वही स्वसंवेदन ज्ञान है, वही परमावस्था रूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्यान करने योग्य जो शुद्ध पारिणामिक भाव है उस रूप है, वही शुद्ध आत्मा द्रव्य है, वही परम ज्योति (ज्ञान) है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्मा द्रव्य है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम समाधि है, परम परम आनन्द है, वही आत्मा की संवित्ति अर्थात् साक्षात्कार है वही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य आनंद है, वही स्वभाव से उत्पन्न हुआ आनंद है, वही सदानंद है, वही शुद्ध आत्मपदार्थ के पठनरूप स्वरूप का धारक है। वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्रचिंताओं का निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है, वही परम योग है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चयनय के अनुसार जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और

वीर्यरूप पाँच प्रकार का आचार है उस स्वरूप है वही समयसार है वही आध्यात्मसार है वही समता आदिरूप जो निश्चयनय से छः आवश्यक है उन स्वरूप है वही अभेद रत्नत्रय रूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परमशरणोत्तम मंगल है, वही केवल ज्ञानोत्पत्ति का कारण है वही समस्त कार्यों के नाश का कारण है, वही निश्चय नय से जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपभेदों के चार प्रकार की आराधना है उस स्वरूप है, वही परमात्मा की भावना रूप है वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो उसकी अनुभूति रूप परमकला है, वही दिव्यकला है वही परम अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परम धर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्पों रहित ध्यान है, वही निष्कलंक ध्यान है, वही परम स्वाध्याय है, वही परम वीतरागता रूप है, वही परम समता स्वरूप है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परमसमरसी भाव है। कुन्दकुन्ददेव ने भी समयसार में कहा है:-

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।(16) समयसार

यह आत्मा जिस जिस भाव से साध्य तथा साधन हो उसी भाव से नित्य सेवने योग्य है, ऐसा स्वयं विचार करके, दूसरों के लिए व्यवहार नय से ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुषों को दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवने योग्य हैं और परमार्थ से देखा जाए, तब ये तीनों एक आत्मा ही है क्योंकि ये अन्य वस्तु नहीं हैं (आत्मा के ही पर्याय हैं) जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं, वे उसके स्वभाव को उल्लंघन नहीं करते है इसलिये वे देवदत्त पुरुष ही हैं अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में ही आत्मा के कारण आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। यह अपने आप ही प्रकाशमान होता है।

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जिस मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि।।(104)
(योगसार)

निश्चय नय से आत्मा ही अर्हत् हैं, वही निश्चय से सिद्ध है, और वही आचार्य है, और उसे ही उपाध्याय तथा मुनि समझना चाहिये।

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु।।105।।

वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनन्त है और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिए।

एव हि लक्खण लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासुण विज्जइ, भेउ।।106।।

इन लक्षणों से युक्त परम निष्कल जो देह में निवास करता है उसमें और आत्मा मे कोई भेद नहीं है।

जो सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहिं जिण उत्तु।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहुउ जाणि णिभंतु।।107।।

जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान में होते हैं वे सब निश्चय से आत्म-दर्शन से ही सिद्ध हुये हैं, यह भ्रान्तिरहित समझो।

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु।
अप्पा सासय मोक्ख पउ जाणंतउ अप्पाणसु।।93।। प.प्र.

पांच इन्द्रियों और मन को रोकना व छह काय के जीवों की दयास्वरूप ऐसे इंद्रियसंयम तथा प्राणिसंयम इन दोनों के बल से साध्य-साधक भावकर निश्चय से अपने शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर होने से आत्मा को संयम कहा गया है। बहिरंग सहाकारी निश्चय शीलका कारणरूप जो काल क्रोधादि के त्याग रूप व्रत की रक्षा वह व्यवहार शील है, और निश्चयकर अंतरंग में अपने शुद्धात्मद्रव्य का निर्मल अनुभव वह शील कहा जाता है, सो शीलरूप आत्मा ही कहा गया है,, बाह्य सहकारी कारणभूत जो अनशनादि बारह प्रकार का तप है, उससे तथा निश्चयकर अंतरंग के सब परद्रव्य की इच्छा के रोकने से परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रताप रूपतिष्ठ रहा है, इस कारण और समस्त विभावपरिणामों के जीतने से आत्मा ही तपश्चरण है और आत्मा ही निजस्वरूप की रूचिरूप सम्यक्त्व है वह सर्वथा उपादेय रूप है, इससे सम्यग्दर्शन आत्मा ही है अन्य कोई नही है, वीतराग स्वसंवेदज्ञान के अनुभव से आत्मा ही है अन्य कोई नहीं है, वीतराग स्वसंवेदज्ञान के अनुभव से आत्मा ही

निश्चयज्ञानरूप है, और आत्मा मिथ्यात्व रागादि समस्त विकल्पजाल को त्यागकर परमात्मतत्व में परमसमरसीभाव के परिणमन से आत्मा ही मोक्षमार्ग है। तात्पर्य यह है कि बहिरंग द्रव्येन्द्रिय संयमादि के पालन से अंतरंग में शुद्धात्मा के अनुभवरूप भावसंयमादिक के परिणमन से उपादेयसुख जो अतीन्द्रिय सुख उसके साधकपने से आत्मा ही उपदेय है।

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु।।(94)

यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान कार्य-कारणभाव से निश्चयसम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार सम्यकत्व कहा जाता है अर्थात् व्यवहार साधक है, निश्चय साध्य है तो भी निश्चयकर एक वीतराग परमानन्दस्वभाव वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप परिणाम से परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयसम्यत्व है यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञान का साधक होने से व्यवहारनयकर शास्त्र ज्ञान भी ज्ञान है तो भी निश्चयकर वीतरागसंवेदनज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है। यद्यपि निश्चयचारित्र के साधक होने से अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तर गुण व्यवहारनयकर चारित्र कहे जाते हैं तो भी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्र को परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयकार चारित्र हैं। तात्पर्य यह है कि अभेदरूप परिणत हुआ परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है।

अण्णु जिन तित्थु मा जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ मा सेवि।
अण्णु जि देउ चिंति तुहुँ अप्पा विमल मुएवि।।(85)

यद्यपि व्यवहारनय से मोक्ष के स्थान से सम्मेद शिखर आदि व जिनप्रतिमा जिनमंदिर आदि तीर्थ हैं क्योंकि वहां से गये महान पुरुषों के गुणों की याद होती है तो भी वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप छेद रहित जहाज कर संसाररूपी समुद्र के तरने को समर्थ जो निज आत्म तत्तव है। वही निश्चयकर तीर्थ है, उसके उपदेश परंपरा से परमाम्तात्व का ज्ञान होता है। यद्यपि प्रथम अवस्था में चित्त की स्थिरता के लिये व्यवहाननयकर जिनप्रतिमादिक देव कहे जाते हैं और वे परंपरा से निर्वाण के कारण हैं तो भी निश्चय नयकर परम आराधने योग्य वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि के समय निजशुद्धत्मभाव ही देव है, अन्य नहीं। इस प्रकार निश्चय व्यवहारकर निश्चयदेव

निश्चयगुरु निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है, वही साधने योग्य है और व्यवहारदेव जिनेंद्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहारगुरु महामुनिराज व्यवहारतीर्थ सिद्धक्षेत्रादिक ये सब पदार्थ हैं, इनसे साक्षात् सिद्धि नहीं है, परम्परा से है। यहां श्री परमात्म प्रकाश अध्यात्म ग्रंथ में निश्चयदेव गुरु तीर्थ अपना आत्म ही है उसे आराधना कर अनंत सिद्ध हुए है और होवेंगे ऐसा सारांश हुआ।

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु।
एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ।।(96)

वीतराग चिदानंद अखंड स्वभाव आत्मतत्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय ही जिसका लक्षण है, तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तिरूप समाधि में लीन निश्चयनय से निज आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व अन्य सब व्यवहार है। इस कारण आत्मा ही ध्यावने योग्य है। जैसे दाख, कपूर, चंदन वगैरह बहुत द्रव्यों से बनाया गया जो पीने का रस वह यद्यपि अनेक रस रूप है तो भी अभेदनकर एक पानवस्तु कही जाती है, उसी तरह शुद्धात्मानुभूति स्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप है तो भी अभेयनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है। यही अभेदरत्न का स्वरूप जैसे सिद्धान्तों में हर एक जगह कहा है, ''दर्शनमित्यादि'' इसका अर्थ ऐसा है कि आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्मा का जानना वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है इनसे बंध कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण।
जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खामोश।।

सब शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहित शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान करने से शीघ्र ही मोक्ष मिलता है, इसलिये वही हमेशा ध्यान करने योग्य है। ऐसा ही बृहदाराधना-शास्त्र में कहा गया है। सोलह तीर्थंकरों के एक ही समय तीर्थंकरों के उत्पत्ति के दिन पहले चारित्रज्ञान की सिद्धि हुई फिर अंतमुहूर्त में मोक्ष होता है तो इस समय ध्यान करने वाले हम लोगों को क्यों नहीं होता? उसका समाधान इस तरह है कि जैसे निर्विकलप शुक्लध्यान वज्रवृषभनाराच संहनन वालों को चौथे काल में होता है वैसा

अब नहीं हो सकता। ऐसा भी दूसरे ग्रंथों में कहा है, ''अत्रेत्यादि'' इसका अर्थ यह है कि श्रीसर्वज्ञवीतरागदेव इस भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में शुक्लध्यान का निषेध करते हैं इस समय धर्मध्यान हो सकता। उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी दोनों ही इस समय नहीं है, सातवाँ गुणस्थान तक गुणस्थान है ऊपर गुणस्थान नहीं है। इस जगह तात्पर्य यह है कि जिस कारण परमात्मा के ध्यान से अंतर्मुहूर्त से मोक्ष होता है, इसलिये संसार की स्थिति घटाने के लिए अब भी धर्मध्यान का आराधन करना चाहिये। जिससे परंपरा से मोक्ष भी मिलता है।

अप्पा-णिय-मणि णिम्मलउ णिमयें वसइ ण जासु।
सत्थ-पुराणइँ तेव-चरणु मुक्खु वि करहिं किं तासु।।(98)

वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धभावना जिसके नहीं है, उसके शास्त्र पुराण तपश्चरणादि सब व्यर्थ हैं। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि क्या बिल्कुल निरर्थक हैं। उसका समाधान ऐसा है कि बिल्कुल तो नहीं है लेकिन वीतराग सम्यक्त्व रूप निज शुद्धात्मा की भावना सहित हो तब वे तो मोक्ष के ही बाह्य सहकारी कारण हैं, यदि वे वीतराग सम्यक्त्व के अभावरूप हो तो पुण्यबंध के कारण हैं और जो मिथ्यात्वरागादि सहित हो तो पाप बंध के कारण है जैसा कि रिद्र वगैरह विद्या नुवादनामा दशवें पूर्वतक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट हो जाते हैं।

जोइय अप्पँ जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ।।99।।

वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से शुद्धात्मतत्व के जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है क्योंकि जैसे रामचन्द्र, पांडव भरत सागर आदि महान् पुरुष भी जिनराज की दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग पढ़कर द्वादशांग पढ़ने का फल निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यान में लीन हुए तिष्ठे थे। इसलिये वीतराग स्वरूप संवेदन ज्ञानकर अपने आत्मा का जानना ही सार है, आत्मा के जानने से सबका जानपना सफल होता है, इस कारण जिन्होंने अपनी आत्मा जानी उन्होंने सबको जाना। अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानंद सुखरस उसके आस्वाद होने पर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप जुदा है और देह रागादिक मेरे से दूसरे हैं, मेरे नहीं है, इसलिये आत्मा के (अपने) जानने से सब भेद जाने

जाते हैं, जिसने अपने को जान लिया उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जाने अथवा आत्मा श्रुत ज्ञानरूप व्याप्ति ज्ञान से सब लोकालोक को जानता है इसलिए आत्मा के जानने से सब जाना गया अथवा वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न (प्रगट) करके जैसे दर्पण में घट पटादि पदार्थ झलकते हैं उसी प्रकार ज्ञान रूपी दर्पण में सब लोक आलोक भासते हैं। इससे यह बात निश्चय हुई कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर अभ्यन्तर सब परिग्रह छोड़कर सब तरह से अपने शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये। ऐसा ही कथन समयसार में श्रीकुंदकुंदाचार्य ने किया है। ''जो पस्सइ'' इत्यादि इसका अर्थ यह है जो निकट संसारी जीव स्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्मा को अनुभवता, सम्यग्दृष्टिपने से अपने को देखता है वह सब जैन शासन को देखता है, ऐसा जिनसूत्र में कहा है। कैसा वह आत्मा है? रागादिक ज्ञानावरणादि से रहित हैं, अन्य भाव जो नर नारकादि उनसे रहित है, विशेष, अर्थात् गुणस्थान में जीव समास इत्यादि सब भेदों से रहित हैं आत्मा के स्वरूप को जो देखता है, जानता है, अनुभवता है, वह सब जिनशासन का मर्म जानने वाला है।

अप्प-सहावि-परिट्ठियह एहउ होइ विसेसु।
दीसइ-अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु।।(100)

आत्मा के स्वभाव में लीन हुए पुरुषों के प्रत्यक्ष में तो यह विशेषता होती है कि आत्मस्वभाव में उनको समस्त लोकालोक शीघ्र ही दिख जाता है। अथवा इस जगह ऐसा भी पाठांतर है ''अप्पसहाव लहु'' इसका अर्थ है कि अपना स्वभाव शीघ्र दिख जाता है और स्वभाव के देखने से समस्त लोक भी दिखता है। यहाँ पर विशेष करके पूर्व सूत्रकथित चारों तरह का व्याख्यान जानना चाहिए क्योंकि यही व्याख्यान बड़े-बड़े आचार्यों ने माना है।

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थु में भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ।।(101)

जैसे आकाश में लीन हुए पुरुषों के प्रत्यक्ष में तो यह विशेषता होती है कि आत्मस्वभाव में उनको समस्त लोकालोक शीघ्र ही दिख जाता है। अथवा इस जगह ऐसा भी पाठांतर है ''अप्पसहाव लहु'' इसका अर्थ है कि अपना स्वभाव शीघ्र दिख

जाता है और स्वभाव के देखने से समस्त लोक भी दिखता है। यहाँ पर विशेष करके पूर्व सूत्रकथित चारों तरह का व्याख्यान जानना चाहिए क्योंकि यही व्याख्यान बड़े-बड़े आचार्यों ने माना है।

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थु में भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ।।(101)

जैसे आकाश में सूर्य का प्रकाश अपने को और परको प्रकाशित करता है, उसी तरह आत्मा अपने को पर पदार्थों को प्रकाशता है, सो हे योगी! इसमें भ्रम मत कर ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु।
अंबरि णिम्मलि घण रहिए भाणु जि जेम फुरंतु।।(119)

हे योगी! निर्मल अपने मन में जिन परमात्मा रागादि सहित नियम से दिखता है जैसे बादल से रहित निर्मल आकाश में सूर्य के समान भासमान है।

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु।।(120)

रागकर के रंजित मन में रागादि रहित आत्मा देव नहीं दिखता जैसे कि मैले दर्पण में मुख नहीं दिखता यह बात है प्रभाकरभट्ट, तू संदेह रहित जान।

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ़ बे खंडा पडियारि।।(121)

जिस पुरुष के चित्त में मृग के समान नेत्र वाली स्त्री बस रही है उसके शुद्धात्मा का विचार नहीं होता है ऐसा प्रभाकरभट्ट तू अपने मन में विचार कर। बड़े खेद की बात है कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती है?

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ।।(14)

ज्ञानियों के रागादि मूल रहित निज मन में अनादि देव आराधने योग्य शुद्धात्मा निवास कर रहा है जैसे मानसरोवर में लीन हुआ हँस बसता है। सो हे प्रभाकरभट्ट मुझे ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसा वचन श्री योंगीद्र देव ने प्रभाकरभट्ट से कहा।

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ रंठिउ सम-चित्ति।।(123)

(देवः) आत्म देव (देवकुले) देवालय में (मंदिर में) (न) नहीं हैं, (शिलायाँ नैव) पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, (लैपे नैव) लेप में भी नहीं है, (चित्रे नैव) चित्राम मूर्ति में भी नहीं है। लेप और चित्राम की मूर्ति लौकिकजन बनाते हैं, पंडितजन तो धातु पाषाण की ही प्रतिमा बनाते हैं, सो लोकिक दृष्टांत के लिए दोहा में लेप चित्राम का भी नाम आ गया। वह देव किसी जगह नहीं रहता है, (ज्ञानमय) केवलज्ञान पूर्ण है, (शिवः), ऐसा निज परमात्मा (सम चित्ते संस्थितः) समभाव में तिष्ठ रहा है, अर्थात् समभाव को परिणत हुए साधुओं के मन में विराज रहा है, अन्य जगह नहीं है।

देउ इत्यादि! देउ देवः परमाराध्यः ण नास्तिः कस्मिन् कस्मिन् नास्ति! देउले देवकुले देवतागृहे णवि सिलए नैव शिलाप्रतिमायां, णवि लिप्पइ नैव लेप प्रतिमायां, णवि चित्ति, नैव चित्रप्रतिमायां। तर्हि क्व तिष्ठति! निश्चयेन अखउ अक्षयः णिरंजणु कर्माञ्जनं रहितः। पुनरपिं किं विशिष्टः। णाणमउ ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः सिउ शिवशब्द वाच्यो निजपरमात्मा। एवं गुण विशिष्टः परमात्मा देव इति। संठिउ संस्थितः समचित्ति समभावे समभावपरिणतमनसि इति! तद्यथा यद्यपि व्यवहारेण धर्म वर्तनामित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्त गुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्येन शत्रु मित्र सुखदुःखजीवित मरणादिसमता रूपे वीतराग सहजानन्दैकरुम परमात्मतत्व सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुभूति रूपा भेद रत्नात्रात्मक समचित्ते शिवशब्द वाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः। तथा चोक्तं-समचितपरिणत् श्रमण लक्षणम् ''समसत्तुधुवग्गे समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो! समलोहकंचणो वि या जीविय मरणे समो समणो।''

यद्यपि व्यवहारनयकर धर्म की प्रवृत्ति के लिये स्थापनारूप अरहंतदेव देवालय में तिष्ठते हैं, धातु पाषाण की प्रतिमा को देव कहते हैं तो भी निश्चयनकर शत्रु मित्र सुख दुःख जीवित मरण जिसमें समान, तथा वीतराग सहजानन्द रूप परमात्मा तत्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेदरत्नत्रय में लीन ऐसे ज्ञानियों के समचित्त में परमात्मा तिष्ठता है। ऐसा ही अन्य जगह भी समचित्त को परिणत हुए मुनियों का लक्षण कहा है। ''समसत्तु'' इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है जिसके सुख दुःख समान हैं, शत्रु

मित्रों का वर्ग समान हैं, और जीवन मरण जिसके समान हैं, ऐसा समभाव का धारण करने वाला मुनि होता है। अर्थात् ऐसे समभाव के धारक शांतचित्त योगीश्वरों के चित्त में चिदानंद देव तिष्ठता है।(123)

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहँ मुज्ज चडावउँ कस्स।।

(मनः) विकल्परूप मन (परमेश्वरस्थ मिलितं) भगवान आत्माराम से मिल गय तन्मयी हो गया (परमेश्वरः अपि) और परमेश्वर भी (मनसः) मन से मिल गया तो (दृयोः अपि) दोनों ही को (समरसीभूतयोः) समरस (आपस में एकमएक) होने पर (कस्य) जिसकी अब मैं (पूजाँ समारोपयामि) पूजा करूँ। अर्थात् निश्चयनयकर किसी को पूजना, सामग्री चढ़ाना नहीं रहा।

मणु इत्यादि! मणु मनो विकल्पयपं मिलियउ मिलितं तन्मयं जातम्। कस्य संबन्धित्वेन! परमेसरहं परमेश्वरस्य परमेसरु वि मणस्स परमेश्वरोऽपि मनः संबन्धितत्वेन लीनो जातः बीहि वि समरसिहूवाहं एवं द्वयोरपि समरसीभूतयोः पुज्ज पूजां चडावउं समारोपयामि! कस्य कस्या निश्चयेन न कस्यापिती अयमंत्र भावार्थ! यद्यपि व्यवहारनये गृहस्थावस्थायां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थ धर्मवर्धनार्थ च पूजाभिषेक दानादिव्यवहारोऽस्ति तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधिरंतानां तत्काले बहिरंग व्यापाराभावात् स्वयमेव नास्तीति।

जब तक मन भगवन से नहीं मिला था, तब तक पूजा करता था और जब मन प्रभु से मिल गया, तब पूजा का प्रयोजन नहीं है। व्यवहारनयकर गृहस्थ अवस्था में विषय कषाय रूप खोटे ध्यान के हटाने के लिए और धर्म के बढ़ाने के लिए पूजा अभिषेक दान आदि का व्यवहार है तो भी वीतराग निर्विकल्पसमाधि में लीन हुए योगीश्वरों को उस समय में बाह्य व्यापार के अभाव होने से द्रव्य पूजा कर प्रसंग में नहीं आता है, भाव पूजा में ही तन्मय है।

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिं जंतु।
मोक्खहँ कारणु एत्तहउ अण्णु तंतु ण मंतु।।23 (प.प्र.)

(येन) जिसका पुरुष ने (विषयकषायेषु) विषय कषायों में जाता हुआ (मनः) मन (निरंजने धृतं) कर्म रूपी अंजन से रहित भगवान में रखा (एतावदेव)

और ये ही (मोक्षस्य कारण) मोक्ष के कारण हैं, (अन्यः) दूसरा कोई भी (तन्त्रं न) तंत्र नहीं है, (मंत्र न) और न मंत्र है। तंत्र नाम शास्थ व औषध का है, मंत्र नाम मंत्राक्षरों का है। विषय कषाय आदि पर पदार्थों से मन को रोककर परमात्मा में मन को लगाना, यही मोक्ष का कारण है।

जेण इत्यादि। येन येन पुरुषेण कर्तृभूतेन णिरंजणि कर्जाञ्जन रहिते परमात्मनि मणु मनः धरिउ धृतम्। किं कुर्वत् सत्। विसय कसाययहिं जंतु विषय कषायेषु गच्छत् सत्। विषय कसायहिं तृतीयान्तं पदं सप्तम्यन्तं कथं जातमिति चेत्। परिहारमाह। प्राकृते क्वचित्कारक व्याभिचारों भवति लिंगव्यभिचारश्च। इंद्र सर्वत्र ज्ञातव्यम्। मोक्खहं कारणु मोक्षस्य कारणं एत्तडउ एतावदेव। विषयकषायरतचित्तस्य व्यावर्तनेन स्वात्मानि स्थापनम् अण्णु ण अन्यत् किमपि न मोक्षकारणम्। अन्यतः किम् तंतु तंत्र शस्त्रमौषधं वा मंतु मन्त्राक्षरं चेति। तथाहि शुद्धात्मतत्वभावनाप्रतिकुलेषे विषय कषायेषु गच्छत् सत् मनो वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानबलेन व्यावर्त्य निजशुद्धात्मद्रव्ये स्थापयति यः स एव मोक्षं लभते नान्यो मन्त्र तन्त्रादिबलिष्ठोऽपीति भावार्थः।

जो कोई निकट संसारी जीव शुद्धात्मतत्व की भावना से उलटे विषय कषायों में जाते हुए मन को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से पीछे हटाकर जिन शुद्धात्म द्रव्य में स्थापन करता है वही मोक्ष को पाता है, दूसरा कोई मंत्र तंत्रादि में चतुर होने पर भी मोक्ष नहीं पाता।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि-वुत्तु।
देहा-देवलि देउ जिणु एहल जाणि णिरुत्तु।। (42) यो.सा.

श्रुतकेवली ने कहा है कि तीर्थों में देवालयों में देव नहीं है, जिनदेव तो देह देवालय में विराजमान है, इसे निश्चित समझो।

ताम कुतित्थइँ परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएँ जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ।।(41)

जबक तक जीव गुरु-प्रसाद से आत्मदेव को नहीं जानता, तभी तक वह कुतीर्थों में भ्रमण करता है और अभी तक वह धूर्तता करता है।

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ।।(4)

जिनदेव देह देवालय में विराजमान हैं, परन्तु जीव (ईंट पत्थरों के) देवालयों में उनके दर्शन करता है-यह मुझे कितना हास्यास्पद मालूम होता है। यह बात ऐसी ही है जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जाने पर भिक्षा के लिये भ्रमण करें।

मूढ़ा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति।।(44)

हे मूढ़! देव किसी देवालय में विराजमान नहीं है, इसी तरह किसी पत्थर, लेप अथवा चित्र में भी देवालय विराजमान नहीं। जिनदेव तो देह-देवालय में रहते हैं इस बात को तु समचित्त से समझ।

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ।
देहा देउलि जो गुणइ सो बुहु को वि हवेइ।।(45)

सब कोई कहते हैं जिनदेव तीर्थ में और देवालयों में विद्यमान हैं परन्तु जो जिनदेव को देह देवालयों में विराजमान समझता है ऐसा पंडित केई विरला ही होता है।

तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढ़हँ मोक्खु ण होई।
णाण-विवज्जिउ जेणजिया मुणिवरु होइ ण सोइ।।(85) प.मा.

(तीर्थं तीर्थं) तीर्थ तीर्थं प्रति (भ्रमतां) भ्रमण करने वाले (मूढ़ाना) मूर्खों को (मोक्षः) मुक्ति (न भवति) नहीं होती, (जीव) है जीव (येन) क्योंकि जो (ज्ञानवर्जितः) ज्ञान रहित है, (स एव) वह (मुनिवरः न भवति) मुनीश्वर नहीं हैं, संसारी है। मुनीश्वर तो वे ही हैं जो समस्त विकल्प जालों से रहित होके अपने स्वरूप में रमे, वे ही मोक्ष पाते हैं।

तीर्थं तीर्थं प्रति भ्रमतां मूढ़ात्मनां मोक्षो न भवति। कस्मादिति चेत् ज्ञान विवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति। तथाहि। निर्दोष परमात्म भावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लास्यन्दि सुन्दरानन्दरूप निर्मलनीरपूरप्रवाह निर्झरज्ञानदर्शनोर्दिगुणसमूहचन्दनादि द्रमुवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तीगणधरदिभव्यजीव तीर्थयात्रिक समूह श्रवण सुखकर दिव्य ध्वनि रूप राज हंसप्रभृतिविविध पक्षिकोलाहल मनोहरं यदर्हद्वीतराग सर्वज्ञ स्वरूपदेव निश्चयेन गंगादितीर्थं न लोकव्यवहार प्रसिद्ध गंगादिकम्। परम निश्ययेन तु जिनेश्वर परमतीर्थसदृशं संसारतरणोपाकारणभूतत्वाद्वीतराग निर्विकल्प परमसमाधितानां निज शुद्धात्मतत्त्वस्मरण मेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थंकर

परमदेवादिगुण स्मरण हेतुभूत मुख्यवृत्या पुण्यबन्धकारणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थमिति अयमत्र भावार्थः। पूर्वोवत निश्चयतीर्थं परिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेष तीर्थं मुक्ति कारण न भवति। निर्दोष परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद रूप निर्मल जल उसके धारण करने वाले और ज्ञान दर्शन आदि गुणों के समूह रूपी चंदनादि वृक्षों के वनों से शोभित तथा देवेन्द्र चक्रवर्ती गणधरादि भव्यजीव रूपी तीर्थ यात्रियों के कानों को सुखकारी ऐसा दिव्यध्वनि से शोभायमान और अनेक मुनिराज राजहंसो को आदि लेकर नाना तरह के पक्षियों के शब्दों से मनोहर जो अरंहत वीतराग सर्वज्ञ वे ही निश्चय से महातीर्थ है, उनके समान अन्य तीर्थ नहीं है। वे ही संसार के तरने के कारण परमतीर्थ हैं। जो परमसमाधि में लीन महामुनि है, उनके वे ही तीर्थ है, निश्चय से निज शुद्धात्मत के ध्यान के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है, व्यवहारनय से तीर्थंकर परमदेवादिक के गुणस्मरण के कारण मुख्यता से शुभ बंध के कारण ऐसे जो कैलाश सम्मेद शिखर आदि निर्वाण स्थान है, वे भी व्यवहार मात्र तीर्थ कहे हैं। जो तीर्थ तीर्थ प्रतिभ्रमण करें और निज तीर्थ का जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं हो, वह अज्ञानी है। उसके तीर्थ भ्रमने से मोक्ष नहीं हो सकता।

देउलु देउ सत्थु गुरु तित्थु वि वेऊ वि कव्वु।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु।। (130)

आगे मुनिराजों को देवल आदि सभी सामग्री अनित्य दिखलाते हुउ अध्रुवानुप्रेक्षा को कहते हैं।

(देवकुलं) अरहंतदेव की प्रतिमा का स्थान जिनालय (देवोऽपि) श्री जिनेन्द्र देव (शास्त्रं) जैन शास्त्र (गुरुः) दीक्षा देने वाले गुरु (तीर्थमपि) संसार सागर स तरने के करण परम तपस्वियों के स्थान सम्मेदशिखर आदि (वेदोऽपि) द्वादशांगरूप सिद्धांत (काव्यं) गद्य-पद्य रूप रचना इत्यादि (इद्वस्तु कुसुमितं) जो वस्तु अच्छी या बुरी दिखने में आती है, वे (सर्वं) सब (ईंधन) कालरूपी अग्नि का ईंधन (भविष्यति) हो जावेगी। देउल इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। देउलु निर्दोष परमात्मस्थापनाप्रतिमाया रक्षाणार्थं देवकुल मिथ्यात्वदेवकुलं वा देउवि तस्यैव परमात्मनोऽनन्त ज्ञानादिगुणस्मरणार्थं धर्म प्रीावनार्थं व प्रतिमास्थापना रूपो देवा रागदिपरिणत देवता प्रतिमारूपो वा सत्थु वा, गुरु लोकाकोकप्रकाशक केवलज्ञानादिगुणसमृध्दस्य

परमात्मनः प्रच्छादकोमिथ्यात्वरागादिपरिणतिरुपो महाऽज्ञानान्धकारदर्पोः तद्व्यापियद्वचन दिनकरकिरणविदीरताः सन् क्षणमात्रेण च विलयं गत, स च जिनदीक्षादायकः श्री गुरुः तद्विपरीतो मिथ्यागुरुवो, तित्थु वि संसारतरणोपायभूतनिज शुद्धात्मतत्वभावनारूपनिश्चयतीर्थं तत्स्वरूपरतः परमतपोधनानां आवासभूतं तीर्थंकदम्बमपि मिथ्यातीर्थ समूहो वा, वेउ वि निर्दोष परमात्मात्मोपदिष्ट वेद शब्दवाच्य,: सिद्धान्तोऽपि परकल्पितवेदो वा, कव्वु शुद्ध जीव पदार्थानां गद्यपद्याकारेण वर्णकं काव्यं लोकप्रसिद्ध विचित्र कथा काव्यं वा, वच्छु परमात्मभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं वनस्पतिनामकर्म तदुदयजनितं वृक्ष कदम्बकं जो दीसइ कुसुमियउ यद् दृश्यते कुसुमितं पुष्पितं इंधणु होसइ सव्वु तत्सर्वं कालाग्नेरिन्धनं भविष्यति विनाशं यास्यतीत्यर्थः। अत्र तथा तावत् पञ्चेन्द्रिय विषये मोहो न कर्त्तव्यः प्राथमिकानां यानि धर्मतीर्थवर्तनादि निमित्तानि देवकुलदेवप्रतिमादीनि तत्रापि शुद्धात्म भावना कालेन कर्तव्येति संबन्धः।

निर्दोषित परमात्मा श्री अरहंतदेव उनकी प्रतिमा के पधराने के लिए जो गृहस्थों ने देवालय (जैन मंदिर) बनवाया है वह विनाशिक है, अनंतज्ञानदिगुणरूप श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा धर्म की प्रभावना के अर्थ भव्यजीवों ने देवालय में स्थापना की है उसे देव कहते हैं, वह भी विनश्वर है। यह तो जिनमंदिर और जिनप्रतिमा का निरूपण किया, इसके सिवाय अन्य देवों के मंदिर और अन्य देव की प्रतिमायें सब ही विनश्वर है, वीतराग निर्विकल्प जो आत्मतत्त्व उसको आदि ले जीव अजीवादि सकल पदार्थ उनकी निरुपण करने वाले जो जैनशास्त्र वह भी यद्यपि अनादि प्रवृत्ति की अपेक्षा नित्य है, तो भी वक्ता श्रोता पुस्तक आदि की अपेक्षा विनश्वर ही है, और जो इसके सिवाय सांख्य पातंजल आदि के परशास्त्र हैं वे भी सब विनाशक हैं। जिनदीक्षा के देने वाले लोकलोक के प्रकाशक केवलज्ञानादि गुणोंकर पूर्ण परमात्मा के रोकने वाला जो मिथ्यात्व रागादि परिणत महाअज्ञान रूप अंधकार उसके दूर करने के लिए सूर्य के समान जिनके वचनरूपी किरणों से मोहांधकार दूर हो गया है, ऐसे महामुनि गुरु हैं वे भी विनश्वर हैं, और उसके आचरण से विपरीत जो अज्ञान तापस मिथ्यागुरु वे भी क्षणभंगुर हैं। ससांर समुद्र के तरने का कारण जो नित शुद्धात्मतत्व उसकी भावना रूप जो निश्चय तीर्थ उसमें लीन परमतपोधन का निवास स्थान सम्मेद शिखर, गिरनार आदिक तीर्थ वे भी विनश्वर हैं और जिनतीर्थ के सिवाय जो पर

यतियों के निवास से परतीर्थ वे भी विनाशिक हैं। निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ वीतरागदेव उन पर उपदेश किया गया जो द्वादशांग सिद्धान्त वह भेद है, वह यद्यपि सदा सनातन हैं, तो भी क्षेत्र की अपेक्षा विनश्वर है, किसी समय किसी क्षेत्र में पाया जाता है, किसी समय नहीं पाया जाता। भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र में यद्यपि प्रवाहकर सदा शाश्वत है, तो कभी वक्ता-श्रोता व्याख्यान की अपेक्षा विनश्वर है, वे ही वक्ता-श्रोता हमेशा नहीं पाये जाते, इसलिए विनश्वर है, और परमयतियों कर कहा गया जो हिंसारूप वेद वह भी विनश्वर हैं। शुद्ध जीवादि पदार्थों का वर्णन करने वाली संस्कृत प्राकृत छटारूप गद्य व छंदबंधरूप पद्य उस स्वरूप और जिसमें विचित्र कथायें है ऐसे सुन्दर काव्य कहे जाते हैं वे भी विनश्वर हैं। इत्यादि जो जो वस्तु सन्दुर और खोटे कवियों कर प्रकाशित खोटे काव्य भी विनश्वर हैं। इत्यादि जो जो वस्तु सुन्दर और असुन्दर दिखती हैं वे सब कालरूपी अग्नि का ईंधन हो जावेंगी। तात्पर्य यह हैं कि सब भस्म हो वनस्पति नामकर्म उसके हृदय से वृक्ष हुआ, सो वृक्षों के समूह जो फूले फले दिखते हैं वे सब ईंधन हो जावेंगे। संसार का साब ठाठ क्षणभंगुर है ऐसा जानकर पंचेन्द्रियों के विषयों में मोह नहीं करना, विषश का राग सर्वथा त्यागना योग्य है। प्रथम अवस्था में यद्यपि धर्मतीर्थ की प्रवृत्तिका निमित्त जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, जिनधर्म तथा जैनधर्मी इनमें प्रेम करना योग्य है तो भी शुद्धात्मा की भावना के समय धर्मानुराग भी नीचे दरजे का गिना जाता है, वहाँ पर केवल वीतरागभाव ही है।

एक्कु जिन मेल्लिवि बंभु परु भुवणु विएहु असेसु।
पुहविहं णिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु।। (131)

(एकं परं ब्रह्म एव) एक शुद्ध जीवद्रव्य रुप परब्रह्म को (मुक्तवा) छोड़कर (पृथिव्यां) इस लोक में (इदं अशेषं भुवनमपि निर्मापितं) इस समस्त लोक के पदार्थों की रचना है सब (भंगुरं) विनाशिक हैं, (एतद् विशेषं) इस विशेष बात को तू (बुध्यस्व) ज्ञान।

एक्कुजि इत्यादि। एक्कुजि एकमेव मेल्लिविमुक्तवा। किम् बंभु परु परमब्रह्म शब्द वाच्यं नाना वृक्षभेदभिन्नंवनमिव नानाजीव जाति भेदभिन्नं शुद्धसंग्रहन्येन शुद्धजीवद्रव्यं भुवणु वि भुवनमपि एहु इदं प्रत्यक्षभूतम्। कतिसंख्योपेतम्। असेसु अशेषु समस्तमपि। कथंभूतमिदं सर्व पुहविहिं णिम्मिउ पृथिव्यां लोके निर्मापितं भंगुरउ विनश्वरं एहउ बुज्झि

विसेसु एवमं विशेषं बुध्यस्व जानीहिं त्वं हे प्रभाकरभट्ट, अयमत्र भावार्थः। विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावं परमब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धजीवतत्त्वं मुक्तवान्यत्पंचेन्द्रिय विषयभूतं विनश्वरमिति।

शुद्ध संग्रहनयकर समस्त जीवराशि एक है। जैसे नान प्रकार के वृक्षों कर भरा हुआ वन कहा जाता है, उसी तरह नाना प्रकार के जीव जाति करके एक कहे जाते हैं। वे सब अविनाशी हैं, और सब देहादि की रचना विनाशिक दिखती हैं। शुभ अशुभ कर्मकर जो देहादिक इस जगत में रची गयी है, वह सब विनाशिक हैं, हे प्रभाकर भट्ट ऐसा विशेष तू जान, देहादिक को अनित्य जान और जीवों को नित्य जान। निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमब्रह्म (शुद्ध जीवतत्व) उससे भिन्न जो पाँच इन्द्रियों का विषय वन यह क्षण-भंगुर जानो। योगेन्द्र देव ने भी योगसार में कहा है-

रयणत्तय संजुततजिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहं कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।। (83)

हे योगिन्! रत्नत्रय युक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ हैं, और वही मोक्ष का कारण हैं। अन्य कुछ मंत्र-तंत्र मोक्ष का कारण नहीं।

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि।। (81)

आत्मा को ही दर्शन और ज्ञान समझो, आत्मा ही चारित्र है और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्मा को ही मानो।

रयणत्तयसंजुत्तं जीव हवदि उत्तम तित्थं।
संसार तरइ जेणं रयणत्तयं दिव्व णावेण।।

रत्नत्रय ये युक्त जीव ही उत्तम तीर्थ है क्योंकि ''तरंति संसारयेन भव्यास्तीर्थ'' अर्थात् संसार रूपी सागर ये भव्य जिसके माध्यम से तिरता है उसे तीर्थ कहते हैं। कहा भी है ''तीर्थ शब्देन मार्ग रत्नत्रयात्मकः'' तीर्थ शब्द से रत्नत्रय मार्ग जानना चाहिये। इसलिये इस गाथा में कहा गया है ''संसार तरइ जेणं रयणत्तयं दिव्व णावेण'' यह जीव जिस दिव्य नाव से संसाररूपी सागर को पार करता है, ऐसी रत्नत्रय रूपी नौका ही उत्तम तीर्थ है।

आत्मा प्रतीति रूप जो आत्म का ही गुण है उसे 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। आत्मा का

जो परिज्ञान रूप आत्मा का गुण है उसे ''सम्यग्श्रुत'' कहते हैं और आत्मा में रमण करने रूप आत्म गुण को चारित्र कहते हैं इसलिये रत्नत्रय आत्मा का ही अभिन्न स्वभाव है। इसलिये रत्नत्रय आत्मा में ही है और साधन अवस्था में यह रत्नत्रय मोक्ष के कारण मार्ग है तो सिद्ध अवस्था में यही रत्नत्रय मोक्षरूप कार्य या साध्य बन जाते हैं। जिस प्रकार 1 कपूर 2 अजवाइन के सत्व 3 पिपरमेंट से अमृत धारा बनाते हैं इन तीनों को जब योग्य अनुपात में मिलाते है तब वे तीनों अमृतधारा के लिये कारण बनते हैं। क्योंकि तीनों धीरे-धीरे पिघलकर अमृतधारा रूप में परिणमन कर लेते हैं। अमृतधारा रूप परिणमन कर लेते हैं तब कार्यरूप हो जाता है।

अध्याय-4

निर्ग्रन्थ श्रमण ही नव देवता

'न धर्मो धार्मिकेर्विना' अर्थात् धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं होता है, क्योंकि गुण-गुणी, धर्म धर्मी का अभेद सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि में होती है शक्कर की मिठास शक्कर में होती है, उसी प्रकार जीव का धर्म जीव में ही होता है। रत्नत्रय या उत्तमक्षमा आदि धर्म आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं होने के कारण मोक्षमार्ग एवं मोक्ष भी आत्मा में होता है। इसलिये रत्नत्रय में परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग एवं मोक्ष है। ऐसे आत्मा से सम्बन्धित नाम स्थापना, क्षेत्र आदि भी पवित्र हो जाते हैं, पूजनीय हो जाते हैं। ऐसे पंचपरमेष्ठी की प्रतिकृति ही मूर्ति या चैत्य है। यह चैत्य जिस आलय (मंदिर गृह) में रहता है उसे चैत्यालय या मंदिर कहते हैं। ऐसे पंचपरमेष्ठी ही धर्म है एवं धर्म का प्रचार करते है इसीलिये साधु ही धर्म है। ऐसे पंचपरमेष्ठी की दिव्य देशना ही जिनवाणी हैं इसलिये साधु ही जिनवाणी हैं। साधु से सेवित क्षेत्र भी तीर्थ बन जाता है। इसलिये साधु ही यथार्थ से तीर्थ है। भगवती आराधना में कहा भी है -

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्मलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुता।।(2000)

क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि संसार से पार उतारने में निमित्त है। उसमें स्नान करने से पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्ति के साथ उस

महातीर्थ में स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली है।

गिरिणदियदिपदेसा तित्थाणि तनोधणेहि जदि उसिदा।
तित्थं कधं णु हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ।।(2001)

यदि तपस्वियों के द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणों की राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं हैं।

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण णाविज्ज।।(2002)

यदि प्राचीन ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वाले को पुण्य होता हैं तो क्षपक की वन्दना करने वालों को विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होता?

ऐसे मुनि की पूजा, आराधना, सेवा यथार्थ से धर्म, मूर्ति, तीर्थ जिनवाणी आदि की पूजा है क्योंकि प्रकारान्तर से ऐसे मुनि से ही अन्तर्संबंध धर्म आदि से होता है। भगवती आराधना में कहा गया है कि जो क्षपक साधु की सेवा करता है, दर्शन करता है वह धन्य है। एक प्रसिद्ध श्लोक निम्नवत् है।

साधुनां दर्शनं पुण्य तीर्थ भूता हि साधवः।
कालेन फलंति तीर्थः सद्यः साधु समागमः।।

साधु का दर्शन ही पुण्य है क्योंकि साधु तीर्थ स्वरूप होते हैं। तीर्थ यात्रा तीर्थ पूजा का फल तो कालान्तर से मिलता है, परन्तु साधु समागम का फल तत्कालिक मिलता है। और भी कहा है-

गंङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्प तरुस्तथा।
पापं तापं तथा दैन्यं सर्व सज्जन संगमः।।

इस श्लोक में लौकिक उदाहरण देकर साधु संगति के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। गंङ्गा से पाप नाश होता है, चन्द्र से ताप नाश होता है कल्पतरु से दैन्यता नाश होती है परन्तु साधु-संगति से पाप, ताप एवं दरिद्रता एक साथ नाश हो जाती है।

भगवती आराधना के अनुसार चातुर्मास में भी साधु चातुर्मास की सीमा का उल्लंघन कर समाधिस्थ साधु की सेवा करने के लिये जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि साधु की सेवा महान् पुण्य है महान् धर्म है इसलिये तो शास्त्र में कहा गया है कि जो स्वाध्याय रत साधु है, उससे भी साधु की सेवा करने वाला साधु महान् है। एक

समाधिस्थ साधु की सेवा करने के लिये 48 निर्यापकाचार्य होते हैं। निर्यापकाचार्य अति तन्मयता से उस साधु की यथायोग्य सेवा करते हुए स्वयं को धन्य मानते हैं। भगवती आराधना में कहा भी है-

ते महापुत्रावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।

सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला।।(1998)

वे महानुभाव भी धन्य है जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्ति से उस क्षपक की आराधना सम्पन्न की।

जो उवविच्चेदि सव्वादरेण आराधण खु अण्णस्स।

संयज्जदि णिणिग्द्या सयला आराधना तस्स।।(1999)

जो निर्यापक सम्पूर्ण आदर के साथ अन्य की आराधना कराता है उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है।

जो ओलग्गदि आराधण सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो।

संपज्जदि णिव्विधा तस्स वि आराहुणा सयला।।(2003)

जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपक की सेवा करता है उसकी भी संपूर्ण आराधना सफल होती है।

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन।।(21),रत्नकरण्ड श्रावकाचार

तप ही जिनका धन है तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जो निधि आश्रय हैं ऐसे भाव आगार है द्रव्य आगार से रहित मुनिश्वर के लिये उपचार प्रतिदिन तथा उपक्रिया प्रत्युपकार की भावना से रहित अपनी विधि, द्रव्य आदि संपदा के अनुसार जो आहार आदि का दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है।

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागातः।

वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।।(22)

देशव्रती और सकलव्रती के भेद के संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आयी हैं तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अंगों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल

सेवा है वह सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत हैं यह वैयावृत व्यवहार अथवा किसी दृष्टफल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश से की जाती है।

नवपुण्यैः प्रतिप्रत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।

अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्।।(23)

सात गुणों से सहित और लौकिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा गुणसम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का नवद्याभक्ति पूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है वह दान माना जाता है।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।

अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।(24)

जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग के घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एकसमान हैं किसी खास तिथि के रागद्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार-सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह की जल, मलिन रुधिर को धो देता है नष्ट कर देता है।

उच्चेर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।

भक्तेः सुन्दररुपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।।(25)

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से भोग, पड़गाहने से पूजा प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धाविशेष से सुन्दर रूप तथा ''आप ज्ञान के सागर हैं'' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

क्षितिगत मिववटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।

फलतिच्छयाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।।(26)

उचित समय में योग्य पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वटवृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए माहात्म्य और वैभव से युक्त, पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलाषित फल से फलता है देता है।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।

वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरसः।।(27)

भक्त, पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है ऐसा पण्डितजन निरुपण करते हैं।

कुन्दकुन्द देव ने बोध पाहुड में सविस्तृत, सुस्पष्ट यह उद्घोष किया है कि निर्ग्रन्थ श्रमण ही जैन धर्म का प्राण है, रहस्य है, मूल है, सर्वस्व है। इसलिये श्रमण का यथार्थ से श्रद्धान करो, उसकी पूजा करो, उसकी सेवा करो। अन्य बाह्य भौतिक, मन्दिर, मूर्ति आदि तो श्रमण का प्रतीक है, व्यवहार है। यथा-

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिनमुद्दा णाणमादत्थं।।(3)
अरहंतेण सुदिट्टं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो।(4)

(4) बोध पाहुड़ (पं. जयचन्द छाबड़ा विरचित टीका)

(1) आयतन (2) चैत्यगृह (3) जिनप्रतिमा (4) दर्शन (5) जिनबिम्ब कैसा है जिनबिम्ब भले प्रकार वीतराग है राग सहित (6) जिनमुद्रा (7) ज्ञान सो कैसा आत्मा ही है अर्थ कहिये प्रयोजन जामैं, ऐसे सात तो ये निश्चय वीतराग देखते कहे तैसे तथा अनुक्रमतैं जानने, बहुरि (8) देव (9) तीर्थंकर (10) अरहंत (3) कर गुणकरि विशुद्ध प्रवज्या से च्यार जो अरहंत भगवान कहते तैसे इस ग्रंथ विषै जानता ऐसैं ये ग्यारह स्थल भये।

इहां ऐसा आशय जाननां जो धर्म मार्ग से कालदोष तैं अनेक मत भये हैं तथा जैनमत में भी भेद भये हैं तिनि में आयतन आदिविषैं विपर्यय भया हैं तिनि का परमार्थ भूत सांचा स्वरूप तौ लोक जानैं नांही अरधर्म के लोभी भये जैसी बाह्य प्रवृत्ति दिखें तिसही में प्रवर्त्तने लगि जाय तिनिकूं संबोधने के अर्थि यहु बोधपाहुड रच्या है तामैं आयतन आदि ग्यारह स्थानकनिका परमार्थभूत सांचा स्वरूप जैसा सर्वज्ञ देव ने कहा है तैसा कहियेगा, अनुक्रमतैं जैने नाम कहैं तैंसे ही अनुक्रम करि इनिका व्याख्यान करिऐगा, सो जानने योग्य हैं।

(1) आगे प्रथम ही आयतन कह्या ताका निरुपण कहैं हैं:-

मणवयणकायदव्वा आयत्ता जस इन्दिया विसयां।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रुवं।।(5)

जिनमार्ग विषैं संयमसहित मुनिरूप हैं सो आयतन कह्या है। वैसा है मुनिरूप जाकै मन वचन काय द्रव्यरूप है ते तथा पाँच इन्द्रियनि के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द से विषय हैं ते ''आयत्ता'' कहिये आधीन हैं वशीभूत हैं, इनिकै संयमी मुनि आधीन नांही है ते मुनि कै वशीभूत हैं, ऐसा संयमी है सो आयतन है। आगै फेरी कहे हैं:-

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहत्वयधारी आयदणं महरिसी भाणियं।।(6)

जा मुनि कै मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ चर चकारतैं माया आदिक ये सर्व ''आयत्ता'' कहिये निग्रहकूं प्राप्त भये बहूरी पांच महाव्रत जे अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य अर परिग्रह का त्याग इनि धारी होय ऐसा महामुनि ऋषीश्वर आयतन कह्या है।

पहली गाथा में तौ बाह्य का स्वरूप कह्या था इहां बाह्य आभ्यंतर दोऊ प्रकार संयमी होय सो आयतन है ऐसा जानना। आगे फेरि कहैं हैं:-

सिद्धं जस्स सदस्थं विसुद्धझाणस्स णाणुजत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवर वसहस्स मुणिदत्थं।।(7)

जा मुनि के सदर्थ कहिये समीचीन अर्थ जो शुद्ध आत्मा सो सिद्ध भया होय सिद्धायतन हैं कैंसा है-मुनि-विशुद्ध हैं ध्यान जाकै धर्मध्यान कूं साधि शुक्लध्यान कूं प्राप्त भया है बहूरी कैसा है ज्ञान करि सहित केवल ज्ञानकूं प्राप्त भया है बहुरि कैसा है घातिकर्मरूप मलतैं रहित है याही तैं मुनिनिमैं वृषभ कहिये प्रधान हैं, बहुरी कैसा है जानें समस्त पदार्थ जानैं ऐसे मुनिप्रधान कूं सिद्धायतन कहिये।

ऐसे तीन गाथा में आयतन का स्वरूप कह्या, तहां पहली गाथा में तो संयमी सामान्य का बाह्यरूप पर्धानकरि कह्या, दूजी में अंतरंग बाह्य दोऊ की शुद्धतारूप ऋषिधारी मुनि ऋशीश्वर कह्या बहुरी इस तीसरी गाथा में केवलज्ञानी है सो मुनिनि में प्रधान हैं ताकूं सिद्धायतन कह्या हैं। इहां ऐसा जानना जो आयतन नामजामैं वसिये निवास करिये ताका है सो धर्म पद्धति में जो धर्मात्मा पुरुष के आश्रय करने योग्य होय

सो धर्मायतन है सो ऐसे मुनि ही धर्म के आयतन हैं, अन्य कई भेषधारी पाखंडी विषय कषायनि में आसक्त परिग्रहधारी धर्म के आयतन नांही हैं तथा जैनमत में भी जे सूत्रविरुद्ध प्रवर्ते हैं तो भी आयतन नांही हैं ते सर्व अनायतन हैं, तथा बौद्धमत में पाँच इन्द्रिय, पाँच तिनिके विषय एक मन एक धर्मायतन शरीर ऐसे 12 आयतन कहैं हैं ते भी कल्पित या तै जैसा आयतन कह्या तैसा ही जाननां, धर्मात्माकूं तिसहीं का आश्रय करनां अन्य की स्तुति प्रशंसा विनयादिक न करना यह बोधपाहुड़ करने का आशय है। बहूरी जामैं ऐसा क्षेत्रकूं भी आयतन कहिये है सो यह व्यवहार है।

(2) आगैं चैत्यगृह का निरुपण करैं हैं:-

बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण जाण चेदिहरं।।(8)

अरे मुनि बुद्ध कहिये ज्ञानमयी ऐसा आत्मा ताहि जानता होय बहुरि अन्य जीवन कूं चैत्य कहिये चेतना स्वरूप जानता होय बहुरी आप ज्ञानमयी होय बहुरी पाँच महाव्रतनिकरि शुद्ध होय निर्मल ता मुनिकूं हे भव्य! तू चैत्यगृह जानि।

जामैं आपा पर का जानने वाला ज्ञानी निःपाप निर्मल ऐसा चैत्य कहिये चेतना स्वरूप आत्मा वसे सो चैत्यगृह है सो ऐसा चैत्यगृह संयमी मुनि हैं अन्य पाषाण आदि का मंदिर कूँ चैत्य गृह कहना व्यवहार है।

समीक्षा : इस गाथा में आचार्य देव ने यथार्थ चैत्य गृह का वर्णन किया है। रत्नत्रय स्वरूप मुनि ही चेतन से युक्त होने के कारण चैत्य है। वह चैत्य जिस आत्म द्रव्य में रहता है। वह आत्मा द्रव्य ही चैत्यालय (चैत्य+आलय) चैत्यगृह/जिनालय/जिनमंदिर है। परन्तु निर्जीव धातु, पाषाणादि से निर्मित्त चैतन्य/मूर्ति/विग्रह/प्रतिमादि जिस पाषाणादि जड़ से निर्मित्त मंदिर/गृह/आलय/आयतनादि में विराजमान होती है वह तो व्यवहार से चैत्यगृह हैं क्योंकि इस जड़ चैत्य एवं चैत्यालय में रत्नत्रय रूपी चेतना नहीं है। आगे फेरि कहैं हैं:-

चेइय वंध मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्काय हियंकरं भणियं।।(9)

जाकै बंध अर मोक्ष बहुरी सुख कर दुख ये आत्मा के होय जाके स्वरूप में होय सो चैत्य कहिये जातैं चेतना स्वरूप होय ताजही के बंध मोक्ष सुखदुःख सम्भवै ऐसा

जो चैत्य का गृह होय सो चैत्य गृह है सो जिनमार्ग विषें ऐसा जो चैत्य गृह छह कायका हित करने वाला होय सो ऐसा मुनि है सो पाँच थावर अर त्रस में विकलत्रय अर असैनी पंचन्द्रियतांई केवल रक्षा ही करने योग्य है तातैं तिनिकी रक्षा करने का उपदेश करैं हैं तथा आप तिनिका घात न करै है तिनिका यही हित है बहुरि सैनी पंचेन्द्रिय जीव है तिनिकी रक्षा भी करें का उपदेश भी करै तथा तिनिकूं संसार तै निवृत्ति रूप मोक्ष होने का उपदेश करैं हैं ऐसे मुनिराज कूं चैत्यगृह कहिये।

लौकिक जन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार मानैं हैं तिनिकूं सावधान किये हैं जो जिनसूत्र में छह कायका हित करने वाला ज्ञानमयी संयमी मुनि है सो चैत्यगृह है, अन्य कूं चैत्यगृह कहना माननां व्यवहार है। ऐसे चैत्यगृह का स्वरूप कह्या।

समीक्षा : आत्मा को ही बंध, मोक्षादि होते हैं इसलिये छहकाय जीवों के हितकारी मुनि के चैतन्य ही चैत्यगृह है। ईंट, पत्थरादि से निर्मित्त मंदिर निश्चय से चैत्यगृह (जिनालय) नहीं है क्योंकि यह निर्जीव होने के कारण इसे बंध, मोक्षादि नहीं होते हैं। परन्तु इसके माध्यम से पाप बांधता है एवं धर्मात्मा धर्म, पूजा, दानादि करके पुण्य संचय करता है एवं परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करता है इसलिए इसे भी व्यवहार में चैत्यालय कहा गया है।

(3) आगे जिन प्रतिमा का निरूपण करैं है:-

सपरा जंगमदेहा दंसणाणेण सुद्धचरणाण।
णिग्गंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।।(10)

दर्शनज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनकै तिनिकी स्वपरा कहिये अपनी अर परकी चालती देह है सो जिनमार्ग विषैं जंगम प्रतिमा है, अथवा स्वना कहिये आत्मा तै पर कहिये भिन्न है ऐसीदेह है सो कैंसी निर्ग्रन्थ स्वरूप है जाकै कछु परिग्रह का लेश नांही ऐसी दिगम्बरमुद्रा, बहुरि कैसी है वीतराग स्वरूप है जाके काहू वस्तुसौं राग द्वेष मोह नांही, जिनमार्ग विषै ऐसी प्रतिमा कही है। दर्शन ज्ञान करि निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनि की गुरु शिष्य की अपेक्षा अपनी तथा पर की चालती देह निर्ग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है सो जिनमार्गविषैं प्रतिमा है अन्य कल्पित है अर धातु पाषाण आदि करि दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य आदि करि

दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार से मान्य है।

समीक्षा : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त निर्ग्रन्थ गुरु शिष्य ही निश्चय से जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति है। क्योंकि यह मूर्तिक (पौद्गलिक) शरीर अमूर्तिक रत्नत्रय का आधार है। समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि मुनि का शरीर 'रत्नत्रय पवित्रते' होने के कारण पवित्र है पूजनीय है। रत्नकरण्ड श्रा. के. टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है-इत्यंभूतेऽ काये रत्नत्रय पवित्रते रत्नत्रयेण पवित्रते पूज्यतां नीते।'' आगै फेरि कहे हैं:-

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।।(3)

जो शुद्ध आचारणकूं आचरैं बहूरी सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तुकूं जान कै बहूरि सम्यग्दर्शनकरि अपने स्वरूप कूं देखे ऐंसे शुद्ध सम्यक् जाकै पाइये है ऐसी निर्ग्रन्थ संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदिबे योग्य है।

जानने वाला देखने वाला शुद्ध सम्यक्त्वशुद्ध चारित्र स्वरूप निर्ग्रन्थ संयमसहित ऐसा मुनि का स्वरूप है सो ही प्रतिमा है सो ही वंदिवे योग्य अन्य कल्पित वंदिवे योग्य नांही है बहुरि तैसे ही रूपसदृश धातुपाषाण की प्रतिमा होय सो व्यवहारकरि वंदिबे योग्य है।

समीक्षा : निर्ग्रन्थ श्रमण यथार्थ से जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति होने के कारण वन्दनीय है। पाषाणादि की जिन प्रतिमा व्यवहार से वन्दनीय है क्योंकि पाषाणादि की प्रतिमायें रत्नत्रयात्मक चैतन्य भाव नहीं है। परन्तु वर्तमान में देखने में आता है कि अनेक जैनी प्रतिमा की अन्धश्रद्धा, रुढ़ि, परंपरा अज्ञानता, हठवादिता को इतना महत्त्व देते हैं कि कोई निर्ग्रन्थ मुनि भी शुद्धता पूर्वक श्रद्धा विवेकपूर्वक भगवान् की प्रतिमा मानकर चरण स्पर्श करता है तो इसका अनादर करेंगे, गाली देंगे, अपशब्द कहेंगे, झगड़ा, कलह करेंगे। आगै फेरि कहैं हैं:-

दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिया अणंतसुक्खाय।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं।।(12)

निरुवममचलखोहा णिम्मिदियाजंगमेण रुवेण।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।।(13)

जो अनंत दर्शन अनंतज्ञान अनंतवीर्य अनन्तसुख इनिकरि सहित है, बहुरि शाश्वत, अविनाशी सुख स्वरूप है, बहुरी अदेह है कर्म नोकर्मरूप पुद्गलमयी देह जिनिकैं नाहीं है बहुरि अष्टकर्म के बंधन करि रहित है, बहुरि उपमाकरि रहित हैं, जाकी उपमा दीजिये ऐसा लोक मैं वस्तु नाही है, बहुरि अचल है, प्रदर्शनि का चलना जिनके नाही हैं बहुरी अक्षोभ है जिनिकै उपयोग में कुछ क्षोभ नांही है निश्चल है, बहुरी जंगमरूप करि निर्मित्त है कर्मतैं निर्मुक्त हुये पीछे एक समय मात्र गमन रूप होय हैं, तातै जंगमरूप करि निर्मापित है, बहुरि सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग ता विषैं स्थित है याही तैं व्युत्सर्ग कहिये कायरहित है जैसा पूर्व देह में आकार था तैसा ही प्रदेशनिका आकार कछु घाटि ध्रुव है, संसारतैं मुक्त होय एक समय गमनकरि लौककै अग्रभागविषैं जाय तिष्ठे पीछैं चलाचल नांही है ऐसी प्रतिमा सिद्ध है।

पहले दोय गाथा में जंगम प्रतिमा संयमी मुनि की देहसहित कही, बहुरी इनिदोय गाथानि में स्थिर प्रतिमा सिद्धनिकी कही ऐसे जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कह्या अन्य केई अन्यथा बहुत प्रकार कल्पैं हैं सो प्रतिमा वंदिवे योग्य नाहिं है।

इहां प्रश्न जो यह तौ परमार्थ स्वरूप कह्या अर बाह्य व्यवहार में प्रतिमा पाषाणादिका की वंदिये है सो कैसे! ताका समाधान जो बाह्य व्यवहार में मतांतर के भेद तैं अनेक रीति प्रतिमा की प्रवृत्ति है सो इहां परमार्थकूं प्रधानकरि कह्या है बहुरि व्यवहार है सो जैसा प्रतिमा का परमार्थरूप होय ताहींकूं सूचता होय सो निर्बाध होय सो व्यवहार भी प्रशस्त है, व्यवहारी जीवनि कै ये भी वंदिवे योग्य है। स्याद्वाद न्यायकरि साधे परमार्थ व्यवहार में विरोध नांही है।

ऐंसे जिनप्रतिमा का स्वरूप कह्या।

समीक्षा : प्रतिमा प्रकृत विषय की प्रतिकृति होती है। यहाँ ज्ञान घन स्वरूप सिद्ध भगवान् का स्वरूप बताया गया है वह ही निश्चय से पूजनीय है। उसकी ही आकृति की पाषाणादि की मूर्ति प्रतिमा व्यवहार से पूजनीय है। परन्तु वर्तमान में जो सिद्ध की खोखली, चपटी मूर्ति बनाते हैं वह पूजनीय नहीं है क्योंकि उसमें सिद्ध का जो आकार (प्रदेशत्वगुण के संस्थान) है वह आकार नहीं है।

(4) आगे दर्शन का स्वरूप कहैं हैं:-

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संयमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।।(14)

जो मोक्षमार्ग कूं दिखावे सो दर्शन है कैसा है मोक्षमार्ग-सम्यक्त्व कहिये तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्क्यत्व है बहुरि कैसे है संयम कहिये चारित्र पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र रूप है बहुरि कैसा है सुधर्म कहिये उत्तम क्षमादिक दश लक्षण धर्मरूप है बहुरि कैसा है निर्ग्रंथ रूप बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित है बहुरि कैसा है ज्ञानमयी है जीव अजीवादि पदार्थनिकूं जानने वाला है इहां निर्ग्रन्थ अर ज्ञानमयी ये दोय विशेषण दर्शन के भी होय है जातै दर्शन है सो बाह्य तौ याकी मूर्ति निर्ग्रन्थ है बहुरि अंतरंग ज्ञानमयी है। ऐसा मुनि के रूपकौं जिनमार्ग में दर्शन बाह्य तथा ऐसे रूप का श्रद्धानरूप सम्यक्त्वरूपकूं दर्शन कहिये है।

परमार्थ अंतरंग दर्शन तो सम्यक्त्व है अर बाह्य याकी मूर्ति ज्ञान सहित ग्रहण किया निर्ग्रन्थरूप ऐसा मुनि का रूप है सो दर्शन है जातै मत की मूर्तिकूं दर्शन कहना लोक में प्रसिद्ध है।

समीक्षा: निर्ग्रन्थ श्रमण बिन वचन से भी अपने स्वरूप से ही मोक्षमार्ग को दर्शाते है, क्योंकि ये प्रायोगिक, जीवन्त रत्नत्रय, संयम, धर्म के धारी होते हैं। परन्तु वर्तमान में देखने में सुनने में एवं अनुभव में आता है कि जो स्वयं दर्शन स्वरूप है एवं मोक्षमार्ग के प्रदर्शक है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि का तो कुछ जैनी दर्शनादि नहीं करते हैं। उनका अविनय, अपमान करते हैं और यहां तक कि जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन के लिये भी प्रतिबन्धक बनते हैं। आगे फेरि कहै हैं:

जहु फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रुवत्थुं।। (15)

जैसे फूल है सो गंधमयी बहुरि दूध है सो घृतमयी है तैसे दर्शन कहिये मन विषें सम्यक्त्व है कैसा है दर्शन अंतरंग तौ ज्ञानमयी है बहुरि बाह्य रूपस्थ है मुनि का रूप है तथा उत्कृष्ट श्रावक आर्जिका का रूप है।

दर्शन नाम मत का प्रसिद्ध है सो इहां जिनदर्शन विषैं मुनि श्रावक, आर्यिका का जैसा बाह्य कह्या सो दर्शन जाननां अर याकी श्रद्धा से अंतरंग दर्शन जाननां सो ये

दोऊ ही ज्ञानमयी है यथार्थ तत्त्वार्थ का जानने रूप सम्यक्त्व जामै पाइये है याहीं तैं फूल में गंध का अर दूध में घृत का दृष्टांत ऐसे दर्शन का रूप कह्या। अन्यमत में तथा कालदोषकरि जिनमत में जैनाभास भेष अनेक प्रकार अन्यथा कहै है सो कल्याणरूप नाही संसार का कारण।

समीक्षा: मुनि, श्रावक, आर्यिका का जो बाह्य रूप है वह तो व्यवहार दर्शन है और इनकी श्रद्धा अंतरंग में निश्चय दर्श है। जिस प्रकार पुष्प की सुगन्धी पुष्प में ही समाहित होती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, असंयत सम्यग्दृष्टि के रूप में स्थित रहता है।

(5) आगे जिन बिम्ब का निरुपण करै हैं:-

जिणबिबं णाणमयं संयमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं जेइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।। (16)

जिनबिंब कैसा है-ज्ञानमयी है अर संयम करि शुद्ध है बहुरि अतिशय करि वीतराग है बहुरि जो कर्म का क्षय का कारण अर शुद्ध है ऐसी दीक्षा अर शिक्षा दे है।

जो जिन कहिये अरहंत सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहिये ताकी जायगां तिसकी ज्यौं मानने योग्य होय, ऐसे आचार्य हैं सो दीक्षा कहिये व्रत का ग्रहण अर शिक्षा कहिये व्रत का विधान बतावनां ये दाऊ कार्य भव्यजीवनिंकूं दे हैं यातै सो कहिये आचार्य ज्ञानमयी होय जिनसूत्र का जिनकू ज्ञान होय ज्ञान बिना यथार्थ दीक्षा शिक्षा कैसे होय कर आप संयमकरि शुद्ध होय ऐसा न होय तौ अन्यकूं भी संयम शुद्ध न करावै, बहुरि अतिशय करि वीतराग न होय तौ कषायसहित होय तब दीक्षा शिक्षा यथार्थ न दे, यातैं ऐसे आचार्य कूं जिनके प्रतिबिंब जाननें।

समीक्षा: यथार्थ से आचार्य ही जिनबिम्ब है क्योंकि आचार्य शिष्यों को शिक्षा एवं दीक्षा देकर मोक्षमार्ग में लगाते। क्योंकि ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरः सरः सूरिदेव इवाराध्यः संसारब्धितरण्डकः।। अर्थात् जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में चतुर्विध संघ को शिक्षा और दीक्षा प्रदान करके उसे संसाररूपी सागर से पार करने के लिए नौका स्वरूप है ऐसे आचार्य देव के समान पूजनीय है। आगै फेरि कहै हैं:-

तस्स य करइ पणामं सव्वं पुजं विणय वच्छाल्लं।
जस्सू यं दंसण णाणं अत्थि ध्रुवं चेयणाभावो।। (17)

ऐसैं पूर्वोक्त जिनबिंबकूं प्रणाम करो बहुरि सर्व प्रकार पूजा करो विनय करो, काहे तैं जाकैं ध्रुव कहिये निश्चय तैं दर्शन ज्ञान पाइये है बहुरी चेतना भाव है।

दर्शन, ज्ञानमयी चेतनाभावसहित जिनबिंब आचार्य है तिनिकूं प्रणामदिक करनां। इहां परमार्थ प्रधान कह्या है तहां जड़ प्रतिबिंब की गौणता है।

समीक्षाः पूर्वोक्त तरण-तारण आचार्य यथार्थ से जिनबिंब होने के कारण उनकी सेवा, पूजा, आराधना करो। क्योंकि इनमें चेतना एवं रत्नत्रय होने के कारण उनकी सेवा से सेवक को रत्नत्रय की भी उपलब्धि होती है। केवल जड़ की पूजा से रत्नत्रय की उपलब्धि होगी। ''च'' शब्द से उपाध्याय तथा साधु के भी उपरोक्त रीति से सेवादि करनी चाहिये। आगैं फेरि कहैं हैंः-

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य।। (18)

जो तप अर व्रत अर गुण कहिये उत्तरगुण तिनिकरि शुद्ध होय बहुरि सम्यग्ज्ञानकरि पदार्थनिकूं पदार्थ जानैं बहुरि सम्यग्दर्शन रि पदार्थनिकूं जानैं बहुरि सम्यग्दर्शन करि पदार्थ निकूं देखें याहितैं शुद्ध सम्यक्त्व जाकैं ऐसा जिनबिंब आचार्य है सो ये ही दीक्षा शिक्षा की देने वाली अरहंत की मुद्रा है। ऐसा जिनबिंब है सो जिनमुद्रा ही है ऐसे जिनबिंब का स्वरूप कह्या।

समीक्षा : पुनः उपरोक्त विषय को स्पष्टीकरण करने के लिए आचार्य श्री कहते हैं कि निर्ग्रंथ आचार्य आदि ही अर्हत् मुद्रा है। जिस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का एक राष्ट्रीय चिह्न होता है और उससे वहाँ की मुद्रा का प्रचलन होता है उसी प्रकार जैनधर्म में निर्ग्रन्थ मुद्राही सार्वभौम मुद्रा है जिससे जैन धर्म का प्रचार प्रसार होता है।

(6) आगैं जिनमुद्रा का स्वरूप कहैं हैंः-

दडसंयममुद्दाए ईदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणए जिणमुद्दा एरिसा भणिया।।(19)

दृढ़ कहिये व्रजवत् चलाया न चलै ऐसा संयम-इन्द्रिय मन का वश करना, षट्जीवनिकाय की रक्षा करनां, ऐसा संयमरूप मुद्रा करि तौ पाँच इन्द्रियनिकूं विषयनि में न प्रवर्त्तावना तिनिका संकोच करना यह तौं इंदियमुद्रा है बहुरि ऐसा संयम करि ही कषायनिकी प्रवृत्ति जामैं नाहीं ऐसी कषायदृढ़मुद्रा है बहुरि ज्ञान का स्वरूपविषैं

लगावनां ऐसे ज्ञानकरि सर्व बाह्य शुद्ध होय हैं, ऐंसै, जिनशासन विषें ऐसी जिनमुद्रा होय हैं।

संयमसहित होय इन्द्रिय वशीभूत होय अर कषायनिकी प्रवृत्ति नांही होती होय अर ज्ञानस्वरूप में लगावता होय ऐसा मुनि होय सो ही जिनमुद्रा है।

समीक्षा : पहले जो जिन मुद्रा कही गयी थी उस मुद्रा का स्वरूप ही यहाँ पर कहा गया है। विजयी-जयी मुद्रा है वह विजय है, इन्द्रिय विजय, मन विजय, कषाय विजय, कर्म विजय। अन्य जो तीन लोक या स्वस्तिक आदि के चिन्ह है वह तो व्यवहार से जैनधर्म की मुद्रा है।

(7) आगैं ज्ञान का निरुपण करैं हैंः-

संयमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।।(20)

संयमकरि संयुक्त अर ध्यान के योग्य ऐसा जो मोक्षमार्ग ताका लक्ष्य कहिये लक्षणे वेद्य निसान जो आपका निजस्वरूप सो ज्ञानकरि पाइये हैं, तातैं ऐसे लक्ष्य के जानने कूं ज्ञानकूं जाननां।

संयम अंगीकारकरि ध्यान करैं अर आत्मा का स्वरूप न जानैं तौं मोक्षमार्ग की सिद्धि नाहीं तातैं ज्ञान का स्वरूप जाननां, याके जानें सर्वसिद्धि हैं।

समीक्षा : सम्यक्ज्ञान के बिना संयम, तप, त्याग, पूजा आदि यथार्थफल को देने में असमर्थ होते हैं क्योंकि ज्ञान के माध्यम से ही सत्य स्वरूप का धर्म स्वरूप का पूजा स्वरूप का परिज्ञान होता हैं इस प्रकार चैत्य चैत्यालय का भी वास्तविक स्वरूप से ज्ञान होता है।

आगैं याकूं दृष्टांतकरि दृढ़ करैं हैंः-

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झय विहीणो।
तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स।।(21)

जैसे वेधने वाला वेधक जो बाण ताकरि विहीन करिये रहित ऐसा पुरुष है सो कांड कहिये धनुष ताका अभ्यासकरि रहित होय सो लक्ष्य कहिये निशाना ताकूं न पावैं तैसे ज्ञानकरि रहित अज्ञानी है सो दर्शन चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग ताका लक्ष्य कहिये लक्षणे योग्य परमात्मा का स्वरूप ताकूं न पावै है।

धनुषधारी धनुष का अभ्यास रहित अर वेधक जो बाण ताकरि रहित होय तौं निशानाकूं न पावै तैसैं ज्ञानकरि रहित अज्ञानी मोक्षमार्ग का निशाना परमात्मा स्वरूप है ताकूं न पहचानैं तब मोक्षमार्ग की सिद्धि न होय तातैं ज्ञानकूं जाननां परमात्मस्वरूप निशानां ज्ञानरूप बाणकरि वेधनां योग्य हैं।

समीक्षा : निशाना बंधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार लक्ष्य को नहीं वेध सकता है उसी प्रकार पूजा, त्याग, तपादि के उद्देश्य से/लक्ष्य से विहीन जीव धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता है।

आगैं कहे है ऐसा ज्ञान विनय संयुक्त पुरुष होय सो मोक्ष पावै हैः-

णाणं पुरिसस्स हवदि लहिद सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।।(4)

ज्ञान होय है सो पुरुष के होय है बहुरि पुरुष ही विनय संयुक्त होय सो ज्ञान कूं पावै है बहुरि पावै तब तिस ज्ञान ही करि मोक्षमार्ग की लक्ष्य जो परमात्मा का स्वरूप ताकूं लक्षता ध्यावता संता तिस लक्षकूं पावै है।

ज्ञान पुरुष कै होय है बहुरि पुरुष ही विनयवान होय सो ज्ञानकूं पावै है तिस ज्ञानहीकरि शुद्धआत्मा का स्वरूप जानिये है यातैं विशेष ज्ञानीनिका विनयकरि ज्ञान की प्राप्ति करनी जाते निज शुद्ध स्वरूप कूं जानि मोक्ष पाइये है, इहां जे विनयकरि रहित होय यथार्थ सूत्र पदतैं चिगे होय भ्रष्ट भयें होय तिनिका निषेध जाननां।

समीक्षा : ''विणयेण संयमो तवो णाणं'' विनय से संयम, तप, ज्ञान की उपलब्धि होती है और ऐसा पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसलिये प्रत्येक समय में सरल, सहज, विनम्र होना चाहिये। ''विणयेण विप्पमुक्को कुदो णाणं'' विनय रहित पुरुष के तप, दान, ज्ञान पूजादि सर्व व्यर्थ हैं। आगै याहि कूं दृढ़ करै हैं:-

मइधणुहं जस्स थिरं सदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्ध लक्खो ण वि चुक्कादि मोक्खमग्गस्स।।(23)

जो मुनि कै मतिज्ञानरूप धनुष स्थिर होय, बहुरि श्रुतज्ञानरूप जाकै गुण कहिये प्रत्यंचा होय, बहुरि रत्नत्रय रूप जाकै भाला, बाण होय स्वरूप निज शुद्धात्मस्वरूप का संबंध रूप किया है लक्ष्य जानैं ऐसा मुनि है सो मोक्षमार्ग कूँ नांही चूकै है।

धनुष की सर्व सामग्री यथावत् मिले तब निसानां नांही चूकै तैसे मुनि के मोक्षमार्ग

की यथावत् सामग्री मिले तब मोक्षमार्ग तैं भ्रष्ट नांही होय है ताका साधन करि मोक्ष पावै है यह ज्ञान का माहात्म्य है तातैं जिनागम अनुसार सत्यार्थ ज्ञानीनिका विनयकरि ज्ञान का साधन करनां। ऐसैं ज्ञान का निरुपण किया।

समीक्षा : जो सतत् आत्म कल्याण को ही परम लक्ष्य मानकर स्वाध्याय, दान, पूजादि करता है वह ही मोक्ष मार्ग से च्युत नहीं होता है। परन्तु प्रसिद्धि सम्पत्ति, भोगादि के लिए जो ज्ञान तप, पूजादि करते हैं वे मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं।

(8) आगै देव का स्वरूप कहै हैं:-

सो देवो जो अत्थं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देवो जो अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा।।(24)

देव जाकूं कहिये जो अर्थ कहिये धन अर धर्म और काम कहिये इच्छा का विषय ऐसा भोग बहुरि मोक्ष का कारण ज्ञान इनि च्यारिनिकूं देवैं। तहां यह न्याय है जो वाकै वस्तु होय सो देवे अर जाकै जो वस्तु न होय सो कैसे दे, इस न्यायकरि अर्थ, धर्म स्वर्गादिक के भोग अमोक्ष का सुख का कारण जो प्रवज्या कहिये दीक्षा जाकै होय सो देव जाननां।

समीक्षा : जो धर्म, अर्थ, काम आदि को देवे उसको देव कहते हैं। जिन दीक्षा अर्थात् मुनिपना धर्म, अर्थ, काम को देता है इसलिये मुनि ही देव है।

आगे धर्मादिका स्वरूप कहै है जिनिके जानें देवादि का स्वरूप जान्याहोयः

धम्मो दयाविसुद्धो पवज्जा सव्वसंगपरिचिता।
देवो ववगय मोहो उदययरो भव्वजीवाणं।।(25)

धर्म है सो तौ दयाकरि विशुद्ध है, बहुरि प्रवज्या है सो सर्व परिग्रह तैं रहित है बहुरिदेव है सो नष्ट भया है मोह जाका ऐसा है सो भव्य जीवनि के उदय का करने वाला है।

लोक में यह प्रसिद्ध है जो धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चार पुरुष के प्रयोजन हैं इनिकै अर्थि पुरुषकाहू वंदे पूजे हैं, बहुरि यह न्याय है जो जाकैं जो वस्तु होय सो अन्यकूं दे अन्यथा कहां तैं ल्यावैं तातैं ये च्यार पुरुषार्थ जिनदेव के पाइये हैं, धर्म तो जिनके दयारूप पाइये है ताकूं साधि तीर्थंकर भये तब धन की अर संसार के भोग की प्राप्ति भई लोक पूज्य भए, बहुरि तीर्थंकर परम पदवी में दीक्षा ले सर्व मोहतैं रहित होय

परमार्थ स्वरूप आत्मीक धर्मकूं साधि मोक्ष सुखकूं पाया सो ऐसें तीर्थंकर जिन है, सोही देव है लोक अज्ञानी जिनिकूं देव माने हैं तिनिकें धर्म काहे का? बहुरि अर्थ काम की जिनि कै वांछा पाइये तिनिके अर्थ काम काहे का? बहुरि जन्म मरण तैं सहित हैं तिनिके मोक्ष कैसे? ऐसे देव सांचा जिनदेव ही है ये ही भव्य जीवनिकै मनोरथ पूर्ण करै है, अन्य सर्व कल्पित देव है।

समीक्षा : वही धर्म अन्य जीवों के सर्वोदय के लिये कारण बनता है, वही प्रवज्जा (जिन दीक्षा) है जो अंतरंग, बहिरंग निग्रन्थपना है, वह ही दीक्षा है एवं वह धर्म है जो दया से विक्षुब्ध हो।

(9) आगै तीर्थ का स्वरूप कहै हैं:

वयसम्मत्त विसुदे पंचेदियसंजदे णिरावेक्खे।

ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्ख सुण्हाणेण।।(26)

व्रत सम्यक्त्व करि विशुद्ध पाँच इन्द्रियनिकरि संयत कहिये संवर सहित बहुरि निरपेक्ष कहिये ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोक का फलकी तथा परलोक विषै स्वर्गादिकानिके भोगनि का अपेक्षातैं रहित ऐसा आत्म स्वरूप तीर्थ विषैं दीक्षा, शिक्षा रूप स्नानकरि पवित्र होहू।

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सहित पंच महाव्रतकरि शुद्ध अर पंच इंदियनि के विषयनितैं विरक्त इस लोक परलोक विषैं विषय भोगिनी वांछातैं रहित ऐसैं निर्मल आत्मा का स्वभावरूप तीर्थ विषैं स्नान किये पवित्र होय हैं ऐसी प्रेरणा करै है।

समीक्षा : जिससे भव्य जीव संसार रूपी समुद्र को पार करता है उसे तीर्थ कहते हैं 'रयणत्तय संयुत्तं जीवो हवदि उत्तम तित्थं।' अर्थात् रत्नत्रय से युक्त ही उत्तम तीर्थ है क्योंकि रत्नत्रय स्वरूप दिव्य नाव से संसारी रूपी समुद्र को पार करता है। इससे भिन्न जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, मोक्ष कल्याणक के स्थान स्वरूप सम्मेदशिखर, पावापुरी आदि तो व्यवहार तीर्थ हैं। कहा भी है-तीर्थ भूताही साधवः साधु तीर्थ भूत होते हैं। आगै फेरि कहै हैं:-

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।

तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण।।(27)

जिनमार्गविषैं सो तीर्थ है जो निर्मल उत्तमक्षमादि धर्म तथा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण

शंकादिमल रहित सम्यक्त्व तथा निर्मल इंदिय मन का वश करना षट्काय के जीवनिकी रक्षा करना ऐसा निर्मल संयम तथा अनशन अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश ऐसा बाह्य तप छह प्रकार बहुरि प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ऐसे 6 प्रकार अंतरंग ऐसे बारह प्रकार निर्मल तप बहुरि जीव अजीव आदिक पदार्थनिका यथार्थ ज्ञान ये तीर्थ हैं ये जो शांत भाव सहित होय कषायभाव न होय तब निर्मल तीर्थ है जातै ये क्रोधादिभावसहित होय तौ मलिनता होय निर्मलता न रहै।

जिनमार्ग विषैं ऐसा तीर्थ कहा है लोक सागर नदीनिकूं तीर्थ मानि स्नान करि पवित्र भया चाहे है सो शरीर का बाह्यमल इनितैं किंचित् उतरे है अर शरीर में धातु, उपधातु रूप अन्तर्मल इनितैं उतरें नांही अर ज्ञानावरण आदि कर्मरूप मल अर रागद्वेष, मोह आदि भावकर्मरूप मल आत्म के अन्तंमल है सो तौ इनितै किंचित् मात्र भी उतरै नांही उलटा हिंसादिक तैं पापकर्म तैं पापकर्मरूप लागै है यातैं सागरनदी आदिकूं तीर्थ माननां भ्रम है। जाकरि तिरिये सो तीर्थ है ऐसा जिनमार्ग में कह्या है सो ही संसारसमुद्रतै तारनेवाला जाननां। ऐसैं तीर्थ का स्वरूप कह्या।

समीक्षा : 26 नवम्बर गाथा में जिस यथार्थ का वर्णन किया गया है उसका ही इस गाथा में विस्तार से वर्णन किया गया है। आचार्य श्री ने यह भी कहा है कि वह धर्म भी तीर्थ तब होता है जब वह धर्म अशान्त, कलह, विषमता, हठग्राहिता से परे हो।

(10) आगै प्रवज्याका स्वरूप कहै हैं:-

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावेहि सगुणपज्जाया।

चउणागदि संपदिमें भाव भावंति अरहंते।।(28)

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव से चार भाव कहिये पदार्थ हैं ते अरहंतकूं जनावैं हैं बहूरि सगुणपर्यायाः कहिये अरहंत के गुण पर्यायनि सहित बहुरि चउणा कहिये च्यवन अर आगति बहुरि सपंदा ऐसे ये भाव अरहंत कूं जनावै हैं।

अरहंत शब्द करि यद्यपि सामान्य अपेक्षा केवलज्ञानी होय ते सर्वही अरहंत है तथापि इहां तीर्थंकरपदकूं प्रधानकरि कथन करिये है तातें नामादिक करि जनावनां कह्या है। तहां लोकव्यवहार में नाम आदि की प्रवृत्ति ऐसे हैं जो जा वस्तु का नाम होय

तैसा गुण न होय ताकूं नाम निक्षेप कहिये। बहुरि जिस वस्तु का जैसा आकार होय तिस आकार ताकी काष्ठ पाषाणदिक की मूर्ति बनाय ताका संकल्प कहि ये ताकूं स्थापना कहिये। बहुरि जिस वस्तु की पहली अवस्था होय तिसहीकूं अगली अवस्था प्रधान कहि कहै ताकूं द्रव्य कहिये। बहुरि वर्तमान में जो अवस्था होय ताकूं भाव कहियै। ऐसे च्यार निक्षेप की प्रवृत्ति है ताका कथन शास्त्र में भी लोककूं समझावनेकूं किया है जो निक्षेपविधान करि नाम स्थापना द्रव्यकूं भाव न समझनां, नामकूं नाम समझनां, स्थापना कूं स्थापना समझनी, द्रव्य कूं द्रव्य समझना भावकूं भाव समझना, अन्यकूं अन्य समझे। व्यभिचार नामा दोष आये हैं ताके मेटने कू लोक को यथार्थ समझाने कूं शास्त्रविषैं कथन है सो इहां तैसा निक्षेप का कथन न समझना, इहां तौ निश्चयकूं प्रधानकरि कथन है सो जैसा अरहंत का नाम है तैसा ही गुणसहित नाम जाननां, बहुरि स्थापना जैसी जाकी देह सहित मूर्ति है सो ही स्थापना जाननीं, बहुरि जैसा जाका द्रव्य है तैसा द्रव्य जाननां, बहुरि जैसा जाका भाव है तैसा ही जाननां। अरिहन्त का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए आचार्य श्री ने कुछ आर्यों का यहाँ वर्णन किया है क्योंकि वस्तु स्वरूप को विभिन्न नय निक्षेप से जाने बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता है और सम्यग्ज्ञान के बिना धर्म भी नहीं होता है।

ऐसे ही कथन आगै कहिये हैं तहां प्रथमही नामकूं प्रधान करि कहै हैं:-

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवम गुणमारुढ़ो अरहंतो एरिसो होई।।(29)

जाकै दर्शन और ज्ञान ये तौ अनंत है घातिकर्म के नाशतैं सर्वज्ञेय पदार्थ निकूं देखना जाननां जाकै है बहुरि नष्ट भया जो अष्ट कर्मनिका बंध ताकरि जाकै मोक्ष है जहाँ सत्व की अर उदय की विवक्षा लेनी केवली के आठूँ ही कर्म का बंध नाहीं यद्यपि साता वेदनीय का बंध सिद्धान्त में कह्या है तथापि स्थिति अनुभाग रूप नांही तातैं अबंधतुल्य ही है ऐसा आठूं ही कर्म बंध के अभाव की अपेक्षा भावमोक्ष कहिये, बहुरि उपमा रहित गुणनिकरि आरूढ़ है सहित है ऐसे गुण छद्मस्थ में कहूं ही नाहीं तातै उपमारहित गुण जामैं है ऐसा अरहंत होय।

केवल नाममात्र ही अरहंत होय ताकूं अरहंत न कहिये ऐसे गुणनिकरि सहित होय ताकूं नाम अरहंत कहिये।

समीक्षा : जो मुनि अंतरंग शत्रुओं को नष्ट करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया है उसे ही अरिहन्त कहते हैं। मूर्ति में जो स्थापना की जाती है वह स्थापना की अपेक्षा अरिहंत है न कि यथार्थ से अरिहन्त है।

जरवाहिजजम्मरणं चउगइगमणं च पुण्य पावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहन्तो।।(30)

जरा कहिये बुढ़ापा अर व्याधि कहिये रोग अर जन्म मरण च्यार गतिविषें गमन पुण्य बहुरि पाप बहुरि दोषनिका उपजावनें वाला कर्म तिनिका नाश करि अर केवलज्ञानमयी अरहंत हुवा सो अरहंत है।

पहली गाथा में तो गुणनिका सद्भाव करि अरहंत नाम कह्या। इस गाथा में दोषनि का अभाव करि अरहंत नाम कह्या। तहां राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिंता, भय, निद्र, विषाद खेद, विस्मय, ये ग्यारह दोष तौं घातिकर्म के उदय तैं होय है बहुरि क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, राग, खेद ये अघातिकर्म के उदय तैं होय हैं तहाँ इस गाथा में जरा, रोग, जन्म, मरण च्यार गतिनि में गमन का अभाव कहने तैं तो दोषनिका अघातिकर्मतैं भये दोषनिका अभाव जाननां जातै अघातिकर्म में इनि दोषनिका उपजावनहारी पापप्रकृतिनि का उदय का अरहंत के अभाव है, बहुरि रागद्वेषादिक दोषनिका घातिकर्म के अभावतैं अभाव है इहां कोई प्रश्न पूछे मरण का अर पुण्य का अभाव कह्या सो मोक्षगमन होना यह मरण अरहंत कै है अर पुण्यप्रकृतिनिका उदय पाइये है, तिनि का अभाव कैसे? ताका समाधन इहां मरण होय फेरि संसार में जन्म होय ऐसा मरण की अपेक्षा है ऐसा अरहंत के नांही तैंसे जो पुण्यप्रकृति का उदय पापप्रकृति का उदय पापप्रकृति सापेक्ष करै ऐसे पुण्य के उदय का अभाव जाननां अथवा बंध अपेक्षा पुण्य का भी बंध नांही है सातावेदनीय बंधै सो स्थिति अनुभाग विना अबंधतुल्य ही है। बहुरि कोई पूछे केवली कै असातावेदनीय का उदय भी सिद्धान्त में कह्या है ताकी प्रवृत्ति कैसे है? ताका समाधान-ऐसा जो असाता का निपट मंद अनुभाग उदय है। अर साता का अतितीव्र अनुभाग उदय है ताकै वशतैं असाता कछु बाह्य करने समर्थ नहीं सूक्ष्म उदय देय खिरि जाय है तथा संक्रमणरूप होय सातारूप होय जाय है ऐसे जाननां। ऐसे अनंत चतुष्टकरि सहित सर्व दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग होय सो नामकरि अरहंत कहिये।

समीक्षा : जो जरादि अठारह दोषों से रहित है एवं ज्ञान घन स्वरूप है उसे अरिहंत कहते हैं। नाम अरिहंत व्यवहार चलाने के लिये और स्थापना अरिहन्त पूज्य भाव उसमें जगाने के लिये कहा जाता है परन्तु यथार्थ से वे अरिहन्त नहीं हैं।

आगै स्थापना करि अरहन्त का वर्णन करैं हैं:-

गुणठाणमग्गणेहीं य पज्जत्तीणपाण जीव ठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स।।(31)

गुणस्थान मार्गणास्थान पर्याप्ति प्राण बहुरि जीवस्थान इनि पाँच प्रकार करि अरहंत पुरुष की स्थापनां प्राप्त करनीं अथवा ताकूं प्रणाम करनां।

स्थापना निक्षेप में काष्ठ पाषाणिक में संकल्प करना कह्या है सो इहां प्रधान नांही, इहां निश्चय प्रधान करि कथन है तहां गुणस्थानादिक करि अरहंत का स्थापना कह्या।

समीक्षा : वस्तुतः तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त मुनि ही यथार्थ अरिहन्त है। क्योंकि अरिहन्त भगवान् चैतन्य स्वरूप है और मूर्ति अचैतन्य स्वरूप है तथा अरिहन्त के एक भी गुण उस मूर्ति में प्रवेश नहीं करते हैं।

आगै भावकूं प्रधानकरि वर्णन करै हैं:-

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो।। (40)

केवलभाव कहिये केवलज्ञानरूप ही एक भाव होतैं संतै अरहंत ऐसा जाननां मद कहिये मान कषाय तैं भया गर्व बहुरि राग द्वेष कहिये कषायनि के तीव्र उदयतैं होय ऐसी प्रीति अर अप्रीतिरूप परिणाम इनि तैं रहित है बहुरि पच्चीस कषायरूप मल ताका द्रव्य कर्म तथा तिनि के उदय तैं भया भावमल ताकरि वर्जित है याही तैं अतिशयकारि विशुद्ध है निर्मल है बहुरि है ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप मनका विकल्प नांही है ऐसा केवल एक ज्ञानरूप वीतरागरूप भाव अरहंत जाननां।

समीक्षा: इस गाथा में निश्चय अरिहन्त अर्थात् अरिहन्त का वर्णन किया गया है। जिस महाश्रमण के समस्त भावात्मक दोष नष्ट हो गये हैं वे ही यथार्थ में अरिहन्त है। मूर्ति में स्थापित/कल्पित अरिहंत तो केवल व्यवहार से आदर्श/गुण का स्मरण दिलाने के लिये प्रतीक स्वरूप अरिहंत है।

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
समत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो।। (41)

भाव अरहंत:-सम्यग्दर्शनकरि तौ आपकूं तथा सर्वकूं सत्तामात्र करि देखे हैं ऐसा केवल दर्शन जाकै है बहुरि ज्ञानकरि सर्वद्रव्य पर्यायनिकूं जानैं हैं ऐसा जाके केवलज्ञान है बहुरि सम्यक्त्व गुणकरि विशुद्ध है क्षायिक सम्यक्त्व जाकै है ऐसा अरंहत का भाव जाननां।

अरहंत होय है सो घातिकर्म के नाशतैं होय है सो यह मोहकर्म के नाशतैं तौ मिथ्यात्व कषाय के अभावतैं परमवीतरागपणां सर्वप्रकारनिर्मलता होय है, बहुरि ज्ञानावरण कर्म के नाशतैं अनंतदर्शन अनंतज्ञान प्रगट होय है तिनकरि सर्वद्रव्य पर्यायनिकूं एकैं काल प्रत्यक्ष देखैं, जानैं है। तहां द्रव्य छह है तिनि में जीवद्रव्य तो संख्याकरि अनंतानंत है। बहुरि पुद्गल द्रव्य तिनितैं अनंतानंत गुणैं बहुरि आकाश द्रव्य एक है सो अनंतानंत प्रदेशी है ताकै तहासर्व जीव पुद्गल असंख्यात प्रदेश में तिष्ठें है बहुरि एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य दोउ असंख्यात प्रदेशी है इनितैं आकाश के लोक अलोक का विभाग है तिस लोकही में कालद्रव्य के असंख्यात कालाणु तिष्ठे हैं। इनि सर्व द्रव्य के परिणाम निमित्त है ताके निमित्त के कमरूप होता समयादिक व्यवहारकाल कहावै तिसकी गणनातैं अतीत अनागत वर्तमान द्रव्यनिके पर्याय अनंतानंत है तिनि सर्वद्रव्य पर्यायनिकूं अरहंत का दर्शन ज्ञान एकै काल देखै जानैं है याही तैं अरहंत कूं सर्व सर्वज्ञ कहिये है।

समीक्षा : जो त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य गुण, पर्यायों को एक साथ देखते हैं जानते हैं और विशुद्ध/क्षायिक/परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन से युक्त हैं इन्हें भाव अरिहंत कहते हैं अथवा भाव निक्षेप की अपेक्षा आत्मा ही अरिहंत है। पाषाणादि की मूर्ति तो व्यवहार से पूजादि गुण स्मरण के लिये कल्पित अरिहंत है।

(11) आगै अरहंत का स्वरूप कहै है:-

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीषहा जियकषाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जाएरिसा भणिया।।(45)

गृह कहिये घर अर ग्रन्थ कहिये परिग्रह इनि दोऊनितैं तिनिका मोह ममत्व इष्ट अनिष्ट बुद्धि तातैं रहित है, बहुरि परीषहनिका सहनां जामै होय है, बहुरि जीते है

कषाय जानैं बहुरिपाप रूप जो आरंभ ताकरि रहित है ऐसी प्रव्रज्या जिनेश कही है।

जैन दीक्षा में कछु भी परिग्रह नाहीं, सर्वसंसार नांही, बाईस परीषहनिका जामैं सहनां कषायनिका जीतनां पापारम्भ का जामैं अभाव ऐसी दीक्षा अन्य मत में नाही।

समीक्षा : निर्ग्रन्थ श्रमण ही आयतन, धर्म, मूर्ति, मंदिरादि होने के कारण सविस्तृत वर्णन गा. नं. 45 से 59 (15) गाथाओं में किया है क्योंकि मुनि श्रमण ही जैन धर्म का जीवन्त स्वरूप है श्रमण ही पंचपरमेष्ठी, नवदेवता ग्यारह आयतन, षट्आयतनादि है। आगै फेरि कहै हैः-

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्तांइ।

कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(46)

धन, धान्य, वस्त्र, इनिका दान बहुरि हिरण्य कहिये रूपा सोनाआदिक बहुरि, शय्या, आसन आदि शब्दतैं छत्र चामरादि बहुरि क्षेत्र आदिक ये कुदानताका देन ताकरि रहित ऐसी प्रवज्या कही है।

अन्नमति केई ऐसी प्रवज्या कहैं है जो गऊ, धन, धान्य, वस्त्र, सोना, रूपा, शयन, आसन, छत्र, चामर, भूमि आदि का दान करनां सो प्रव्रज्या है ताका या गाथा में निषेध किया है जो प्रवज्या तौ निर्ग्रन्थस्वरूप है जो धन धान्य आदि राखि दान करैं ताकै काहे की प्रव्रज्या? यह तो गृहस्थ कर्म है, बहुरि गृहस्थ कै भी इनि वस्तुनि के दानतैं विशेष पुण्यतौं नाहीं उपजै है जातैं पाप बहुत है सो पुण्य अल्प है सो बहुत पाप कार्य तो गृहस्थकूं करने में लाभ नाही जामें बहुत लाभ होये सो ही करना योग्य है, दीक्षा तो इनि वस्तुनिकरी रहित ही जानना।

समीक्षा : श्रमण दूसरों को तो शिक्षा, दीक्षा, ज्ञान, अभयादि निरवद्य दान देते हैं परन्तु सावद्य (पाप सहित) दान नहीं देते हैं। इसीलिये साधु को कुदान नहीं करना चाहिए। आगै फेरि कहैं हैः-

सत्तूतित्ते य समा पंससणिद्धअलद्धिसमा।

तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (47)

बहुरि जामैं शत्रु मित्रवर्षै समभाव है, बहुरि प्रशंसा निंदा विषैं लाभ अलाभविषैं समभाव है बहुरि तृणकंचन विषै समभावहो ऐसी प्रव्रज्या कही है।

जैन दीक्षा विषै रागद्वेष का अभाव है जातैं बैरी मित्र निन्दा, प्रशंसा, लाभ, अलाभ,

विसैं समभाव है, बहुरि त्रण कंचनविषैं तुल्य भाव है, जैन मुनिनिकैं ऐसे दीक्षा है।

समीक्षाःसमता भाव से ही श्रमण बनता है वह समता भाव समस्त अनुकूल, लाभ, शत्रु-मित्र, जन्म-मरण, आदि के होना चाहिये। यह समता भाव ही जीव का स्वरूप है धर्म व मर्म है। समता से रहित समस्त क्रियायें केवल बाह्य क्रियायें है। उससे आत्म कल्याण नहीं हो सकता है। आगै फेरि कहै हैः-

उत्तमज्झिमगेहे दारिद्दे णिरावेक्खा।

सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भविता।। (48)

उत्तम गेह कहिये शोभासहित ऐसा राजमंदिरादिक अर मध्यम गेह कहिए शोभारहित सामान्य जन का घर इनि विषैं दरिद्री, धनवान इनिविषैं निरपेक्ष कहिये जामैं अपेक्षा ऐसी सर्व ग्रह्य है पिंड कहिये आहार जानैं ऐसी प्रवज्या कही है।

मुनि दीक्षा सहित होय है अर आहार लेने कूं जाय तब ऐसी न विचारै जो बड़े घर जाना अथवा छोटे घर जाना दरिद्री के जाना धनवान कैं जाना ऐसी वांछा रहित निर्दोष आहार की योग्यता होय तहां सर्वत्र ही जायं योग्य आहार ले ऐसी दीक्षा है।

***समीक्षा** : श्रमण को धनी, गरीब का पक्षपात नहीं होना चाहिये। श्रमण का पक्षपात केवल समता में ही होता है। केवल समता सामायिक के समय में पर्याप्त नहीं है परन्तु जीवन के हर क्षेत्र एवं हर कार्य में इसकी अनिवार्यता है। आगै फेरि कहै हैंः-*

णिग्गंधा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोस्सा।

णिम्मय णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(49)

बहुरि कैसी है प्रवज्या निर्ग्रन्थस्वरूप है परिग्रह मैं रहित है, बहुरि कैसी है निसंग कहिये स्त्री आदि परद्रव्य का संग मिलाप जामैं नांही है बहुरि निर्माना कहिये मान कषाय जामैं नांही है मद रहित है बहुरि कैसी है निराशा है जामैं आशा नांही है संसार भोग की आशा रहित है बहुरि कैसी है आराग कहिये, राग का जामैं अभाव है, संसार देह भोगसूं जामैं प्रीति नांही है, बहुरि कैसी है निर्दोष कहिये काहूंसूं द्वेष जामैं नांही है बहुरि कैसी है निर्ममा कहिये जामैं काहूं सूं ममत्व भाव नांही है बहुरि कैसी है निरंहकारा कहिये अहंकार रहित है जो कछु कर्मका उदय है सो होय है ऐसे जानने में परद्रव्य में कर्त्ता का अहंकार नांही है अपना स्वरूप का ही जामैं साधन है ऐसी प्रव्रज्या कही है।

अन्यमती भेष पहरि तिस मात्र दीक्षा मानैं है सो दीक्षा नाही है, जैनदीक्षा ऐसी कही है।

***समीक्षा** : आत्मा का स्वाभाविक भाव कर्मजनित वैभाविक भावों से रहित होने के कारण श्रम तथा यथायोग्य श्रावकों को भी उस शुद्ध भाव को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयास करना चाहिये। क्रियाओं को करते हुए भी यदि अहंकार, दोष आदि को परिमार्जित नहीं करते हैं तो वह क्रियायें केवल दिखने की क्रियायें है।*

आगै फेरि कहै हैं:-

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।

णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(50)

बहुरि प्रव्रज्या ऐसी कही है निःस्नेहा कहिये जामैं काहूंसूं स्नेह नांही है द्रव्य रागादिरूप सच्चिक्कणभाव जामैं नांही है बहुरि कैसी है निर्लोभा कहिये जामैं कछु परद्रव्य के लेने की वांछा नांही है बहुरि कैसी है निर्मोहा कहिये जामैं कछु परद्रव्य सूं मोह नांही है भूलिकरि भी परद्रव्य में आत्मबुद्धि नांही उपजै है, बहुरि कैसी है निर्विकार है बाह्य आभ्यंतर विकारसूं रहित है बाह्य शरीर की चेष्टा तथा वस्त्र भूषणादिक का तथा अंग उपांग का विकार जामैं नांही है अंतरंग कामक्रोधादिक विकार नांही है बहुरि कैसी है निःकलुषा कहिये मलिनभाव रहित है आत्माकूं कषाय मलिन करैं है सो कषाय नांही है बहुरि कैसी है निर्भया कहिये काहु प्रकार का भय जामैं नहीं है। आपका स्वरूप कूं अविनाशी जानैं ताकैं काहे का भय होय बहुरि कैसी है निराशभाव कहिये जामैं काहू प्रकार परद्रव्य की आशंका भाव नांही है आशा तौ कछु वस्तु की प्राप्ति न होय ताकी लगी रहे है अर जहां परद्रव्यकूं अपनां जान्यां नांही अर अपने स्वरूप कीप्राप्ति भई कछु पावना न रह्या तब काहे की आशा होय। प्रव्रज्या ऐसी कही है।

जैनदीक्षा ऐसी है, अन्यमत में स्वरूप द्रव्य का भेदभाव नांही है तिनिकैं ऐसी दीक्षा काहैं ते होय-

आगै दीक्षा का बाह्य स्वरूप कहै हैं:-

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता।

परकियणिलयणिवासा पवज्जा एरिसा भणिया।।(51)

कैसी है प्रव्रज्या-यथाजातरूपसदृशी कहिये जैसा जन्म्यां बालक का नग्न रूप तैसा नग्न रूप जामैं है बहुरि कैसी है अवलंबित भुजा कहिये लंबायमान किये है भुजा जामैं बाहुल्य अपेक्षा कायोत्सर्ग खड़ा रहना, जामैं होय है-बहुरि कैसी है निरायुधा कहिये, आयुधनिकरि रहित है बहुरि शांता कहिये अंग उपांग के विकार रहित शांत मुद्रा जामैं होय है बहुरि कैसी परकृतनिलय निवासा कहिये पर का किया निलय हो वस्तिका आदिक तामैं है निवास जामैं आपकूं कृत कारित, अनुमोदना, मन वचन काय करि जामैं दोष न लाग्या होय ऐसी पर की करी वस्तिका आदिक वसना होय ऐसी प्रव्रज्या कही है।

अन्यमती केई बाह्य वस्त्रादिक राखै है कई आयुध राखै है केई सुखनिमित्त आसन चलाचल राखें है केई उपाश्रेय आदि वसनें का निवास बनाय तामै वसैं है अर आपकूं दीक्षा सहित मानैं है तिनिकै भेषमात्र है जैनदीक्षातौ जैसी कही तैसी ही है। आगे फेरि कहै हैं:-

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कार वज्जिया रुक्खा।

मयरायदोसरहिया पव्वज्ज एरिसा भणिया।।(52)

बहुरि कैसी है प्रव्रज्या उपशमक्षमादमयुक्ता कहिये उपशमतौ मोहकर्म का उदय का अभावरूप शांतपरिणाम अर क्षमा क्रोध का अभाव रूप उत्तम क्षमा अर दम कहिये इंदियानिकूं विषयनिकूं न प्रवर्त्तावनां इनि भावनिकरि युक्त है बहुरि कैसी है शरीर संस्कार वर्जिता कहिये स्नानादिक करि शरीर का संवारना ताकरि रहित है बहुरि रुक्ष कहिये तैलादिक का मर्दन शरीर के जामैं नांही है बहुरि कैसी है मद, राग, द्वेषा इनि करि रहित है ऐसी प्रव्रज्या कही है।

अन्यमत के भेषी क्रोधादिकरूप परिणामें है शरीरकूं संवारि सुंदर राखैं हैं इन्द्रियनि के विषय सेवें है अर आपकूं दीक्षा सहित माने हैं सो वे तो गृहस्थतुल्य है अतीव कहाय उलटा मिथ्यात्व दृढ़ करै है जैनदीक्षा ऐसी है सो सत्यार्थ है याकूं अंगीकार करैं ते सांचे अतीव है। आगै फेरि कहै हैं:-

विवरीय मूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।

सम्मत्तगुणविसुद्धा पवज्जा एरिसा भणिया।।(53)

बहुरि कैसी है प्रव्रज्या विपरित भया है दूरि भया है मूढ़भाव अज्ञान भावजाकै,

अन्यमति आत्मा का स्वरूप सर्वथा एकांतकरि अनेक प्रकार न्यारे न्यारे कही वाद करें है तिनिकैं आत्मा का स्वरूप विषैं मूढ़भाव है। जैसी मुनिनितैं अनेकांत तै साध्या हुवा यथार्थ ज्ञान है तातैं मूढ़भाव नहीं है, बहुरि कैसी है प्रणष्ट भया है मिथ्यात्व जामै जैन दीक्षा में विपरीता अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व का अभाव है याहीतैं सम्यक्त्वनामा गुणकरि विशुद्ध है निर्मल है सम्यक्त्व सहित दीक्षा में दोष नांही रहे हैं। ऐसी प्रव्रज्या कही है। आगै फैरि कहै हैं:-

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खय कारणे भणिया।।(54)

प्रव्रज्या है सो जिनमार्गविषैं छह संहनन वाले हीकैं नाहीं कह्या है निर्ग्रन्थ स्वरूप है सर्वपरिग्रह तैं रहित यथाजात स्वरूप है याकूं भव्य पुरुष है तें भावैं हैं ऐसी प्रव्रज्या कर्म का क्षय कारण कही है।

वज्र वृषभनाराच आदि छह शरीर के संहनन कहे है तिनि में सर्व ही में दीक्षा होनां कह्या सो जे भव्य पुरुष है ते कर्म क्षय का कारण जांनि याकूं अंगीकार करौ। ऐसा नांही है जो दृढ़ संहनन वज्रवृषभादिक हैं तिन ही में होय अर सृपाटिका संहनन में न होय होय है, ऐसी निर्ग्रन्थ रूप दीक्षा सृपाटिका संहननविषे भी होय है। आगै फैरि कहे हैं:-

तिलतुसमत्तणिमित्तंसम वाहिरगंध संगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहीं।।(55)

जिस प्रव्रज्या विषैं तिल के तुसमात्र संग्रह का कारण ऐसी भावरूप इच्छा नामा अंतरंग परिग्रह बहुरि तिस तिल के तुस मात्र बाह्य परिग्रह का संग्रह नांही ऐसी प्रव्रज्या जैसे सर्वज्ञदेव कही है सो ही है, अन्य प्रकार प्रव्रज्या नांही है ऐसा नियम जाननां। श्वेताम्बर आदि कहैं है जो अपवाद मार्ग में वास्त्रादिक का संग्रह साधु कै कह्या है सो सर्वज्ञ के सूत्र तौ कह्या है नाही तिननैं कल्पित सूत्र बनाये है तिनि में कह्या है सो कालदोष है। आगै फैरि कहैं हैं :-

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसेहि णिच्च अत्थेइ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ।।(56)

कैसी है प्रव्रज्या उपसर्ग कहिये देव मनुष्य तिर्यंच अचेतन कृत उपद्रव अर परीषह कहिये दैवकर्म योगतैं आये जे बाईस परिग्रह तिनिकूं समभाव नितैं सहना जामैं ऐसी

प्रव्रज्या सहित मुनि है ते जहां अन्यजन नांही ऐसी निर्जन वनादिक प्रदेश तहां सदा तिष्ठे है तहां भी शिलातल काष्ठ भूमितलविषैं तिष्ठैं इनि सर्वही प्रदेशनिकूं आरोहणकरि बैठें हैं सोबै, सर्वत्र कहने तैं वन में रहे अर किंचित्काल नगर में रहैं तो ऐसे ही ठिकानैं रहै।

जैन दीक्षा वाले मुनि उपसर्ग परीषह में समभाव रहैं अर जहां सौवे बैठें तहां निर्जन प्रदेश में शिला काष्ठ भूमि ही विषें बैठे सोवे ऐसा नांही जो अन्यमत के भेषी स्वच्छन्द प्रमादी रहें, ऐसे जाननां। आगै अन्य विशेष कहै हैं:-

पसुमहिसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाण जुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(57)

जिन प्रव्रज्याविषैं पशु तिर्यंच महिला (स्त्री) षंढ (नपुंसक) इनिका संग तथा कुशील (व्याभिचारी) पुरुष का संग न करै है बहुरि स्त्री राजा भोजन चोर इत्यादि का कथा ते विकथा तिनिकूं न करै तौ कहा करै? स्वाध्याय कहिये शास्त्र जिनवचनिका का पठन पाठन कर ध्यान कहिये धर्म शुक्ल ध्यान इनि करि युक्त रहैं: प्रव्रज्या ऐसी जिनदेव कही है।

जैन दीक्षा लेकर कुसंगति करै विकथादि करै प्रमादि रहै तो दीक्षा का अभाव हो जाये यातैं कुसंगति निषिद्ध है अन्य भेष की ज्यों यह भेष नांही है ये मोक्षमार्ग अन्य संसार मार्ग है। आगै फैरि विशेष कहै हैं:-

तववयगुणेहिं सुद्धासंजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(58)

प्रव्रज्या जिनदेव ऐसी कही है कैसा है तप कहिये बाह्य अभ्यंतर बारह प्रकार अर व्रत कहिये पांच महाव्रत अर गुण कहिये इनि के भेदरूप उत्तरगुणतिनि करि शुद्ध है बहुरि कैसा है संयम कहिये इन्द्रियमन का विरोध षट्काय का जीवनि की रक्षा सम्यक्त्व कहिये तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण निश्चय व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन बहुरि इन का गुण कहिये मूलगुण तिनि करि शुद्ध अतिचार रहित निर्मल है बहुरि जे प्रव्रज्या के गुण कहे तिनि करि शुद्ध है भेषमात्र ही नांही ऐसी शुद्ध प्रव्रज्या कही है इनि गुणनि बिना प्रव्रज्या शुद्ध नांही है।

तप व्रत सम्यक्त्व इनिकरि अर इनि के मूलगुण अर अतीचारनिका सोधनां जामैं

होय ऐसी दीक्षा शुद्ध है, अन्यवादी तथा श्वेताम्बरादि जैसें तैसें है सो दीक्षा शुद्ध नांही।

आगै प्रव्रज्या कथनकूं संकोचै हैं:-

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते।
णिग्गंधे जिणमग्गे संखेवेणं जहारवादं।।(59)

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार आयतन जो दीक्षा का ठिकाना निर्ग्रन्थ मुनि ताके गुण जे ते है तिनकरि पज्जत्ता कहिये परिपूर्ण, बहुरि अन्य भी जे बहुत दीक्षा में चाहिये ते गुण जामै होय ऐसी प्रव्रज्या जिनमार्ग में जैसी ख्यात कहिये प्रसिद्ध है तैसें संक्षेपकरि कही कैसा जिनमार्ग विशुद्ध है सम्यक्त्व जामैं अतीचार रहित सम्यक्त्व जामैं पाइये है बहुरि कैसा जिनमार्ग निर्ग्रन्थरूप है जामैं बाह्य अन्तर परिग्रह नांही है।

ऐसी पूर्वोक्त प्रव्रज्या निर्मल सम्यक्त्व सहित निर्ग्रन्थरूप जिनमार्गविषैं कही है अन्य नैयायिक सांख्य वेदान्त मीमांसक पांजलि बौद्ध आदिक मत में नाही है बहुरि कालदोषतैं जैनमत तैं च्युत भये अर जैनी कहावे ऐसे श्वेताम्बर आदिक तिनि में भी नाही है।

समीक्षा : विस्तृत रूप से आचार्य श्री ने श्रमण का वर्णन करके इस गाथा में उपसंहार रूप से कहते हैं वहीं प्रव्रज्या है जिसमें आयत्तणगुणपज्जत्ता ''आत्मतत्वगुणपर्याप्तापरिपूर्णा'' अर्थात् आत्मतत्व गुण से परिपूर्ण है। ऐसी प्रव्रज्जा से परिपूर्ण श्रमण ही जैन धर्म के (1) आयतन (2) चैत्यगृह (जिनमंदिर), (3) जिन प्रतिमा, (4) दर्शन, (5) जिन बिम्ब, (6) जिनमुद्रा, (7) आध्यात्मिक ज्ञान , (8) निर्दोष सच्चे देव, (9) तीर्थ, (10) अरिहंत, (11) प्रव्रज्या (दीक्षा) है।

सामान्य व्यक्ति इस आध्यात्मिक आगमोक्त, यथार्थ रहस्य को नहीं जानते हैं। कुछ व्यक्ति तो केवल मंदिर, मूर्ति, क्षेत्र, पूजा, विधान, पंच कल्याणक, रथयात्रा, तीर्थ यात्रा, धर्मशाला को ही धर्म मानते हैं। कुछ तो इसे धर्म नहीं मानते परन्तु इसे अर्थ सिद्धि, स्वार्थ सिद्धि, प्रसिद्धि व सत्ता के साधन मानते हैं तो कुछ इसे मनोरंजन का साधन मानते हैं तो कुछ इसे झगड़ा, कलह, पार्टीबाजी, फूट, तनाव का केन्द्र बना लेते हैं तो कुछ इसे जीविका उपार्जन के साधन बना देते हैं। यह सब धर्म के नाम पर कलंक है, पाप है, अन्याय है, भ्रष्टाचार है, अनैतिक है। इन सब प्रवृत्तियों का प्रवेश धर्म में कदापि नहीं होना चाहिये इसलिये सबको प्रवृद्ध, सजग, सक्रिय होना चाहिये।

अध्याय-5

यथार्थ पूजा

पूजा अनेक प्रकार की होती है यथा (1) नाम पूजा, (2) स्थापना पूजा, (3) द्रव्य पूजा (4) क्षेत्र पूजा, (5) भाव पूजा। पंचपरमेष्ठी का नाम स्मरण करने का नाम पूजा है। मूर्ति आदि में पंचपरमेष्ठी आदि की स्थापना करके पूजना स्थापना पूजा है। जलादि अष्ट द्रव्यों से पंचपरमेष्ठी की पूजा करना द्रव्य पूजा है। पंचपरमेष्ठी से संबंधित क्षेत्र की पूजा करना क्षेत्र पूजा है। पंचपरमेष्ठी से संबंधित काल में पूजा करना काल पूजा है। पंच परमेष्ठी प्रति भक्ति भाव से जो गुणस्मरण आदि रूप से जो भक्ति की जाती है, उसे भाव पूजा कहते हैं। प्रकारान्तर से उस पवित्र नामादि को नाम मंगल, द्रव्य मंगल, क्षेत्र मंगल, काल मंगल, भाव मंगल रूप से भी अभीहित किया जाता है। उन मंगलों का स्मरण भक्ति गुणस्मरण आदि ही नाम पूजादि है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उपयुक्त पूजा आदि में आत्मा के निर्मल भाव ही मुख्य रूप से अभिप्रेत हैं क्योंकि रत्नत्रय से युक्त पवित्र जीव (आत्मा) के नाम का स्मरण करना नाम पूजा है। नाम स्मरण के साथ-साथ उस पवित्र आत्मा के गुणों का स्मरण होता है और उन गुणों को प्राप्त करने के लिए पूजा की जाती है। इसी प्रकार स्थापना पूजा में भी पंचपरमेष्ठी के गुणस्मरण निर्मल भाव से करते हैं। इस पूजा में ''वन्दे तद्गुण लब्धये'' अर्थात् उनके गुणों की उपलब्धि के लिए मैं वंदना करता हूँ यह अभिप्रायः रहता है। यदि मूर्ति के द्वारा अरहंत आदि का स्मरण नहीं किया जाता है पूजा नहीं है। यह केवल जड़ पूजा, जड़क्रिया, बुत परस्ती है। जलदि अष्ट द्रव्य के अवलम्बन से पूज्य पुरुष के गुणस्मरण पूर्वक जो पूजा की जाती है उसे द्रव्य पूजा कहते हैं। केवल द्रव्य क्षेपण करना इस पूजा का उद्देश्य नहीं है परन्तु यह द्रव्यावलम्बन है, प्रतीक है एवं भाव जगाने के लिए बाह्य कारण हैं। उदाहरण के तौर पर जल पवित्रता का प्रतीक है। जल चढ़ाते हुए भक्त यह भावना भाता है कि हे भगवान्! आप जिस प्रकार जन्ममृत्यु को विनाश करके पवित्र हो गये उसी प्रकार मैं भी होना चाहता हूँ। इसी प्रकार चंदन शीतलता का प्रतीक है और चन्दन चढ़ाते हुए भक्त यह भावना भाता है कि हे भगवान्! जिस प्रकार आप समस्त संसार ताप नष्ट करके शान्त, शीतल, सुखी बन

गये उसी प्रकार मैं भी बनना चाहता हूँ। इसी प्रकार अन्य द्रव्य का भी उद्देश्य और उसके पीछे निहित भावना अलग रहती है परन्तु सबका उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करने का और उसके भावना, आत्मा को पवित्र बनाने की रहती है। इसके बिना द्रव्य से पूजा पूजा ही नहीं है। जिस प्रकार खिलाड़ी गेंद के माध्यम से खेलता है, उस गेंद के माध्यम से उछलता है, कूदता है, अंग उपांगों का संचालन करता है, जिससे उसका शरीर हष्ट पुष्ट एवं स्वस्थ होता है। ह्रष्टता आदि गेंद से नहीं मिली है परन्तु गेंद के माध्यम से जो व्यायाम हुआ उससे प्राप्ति होती है। इसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु आदि का विनाश जल से नहीं होता है जलादि द्रव्य का ग्रहण भगवान् नहीं करते हैं तथापि भक्त उस द्रव्य के माध्यम से अपनी भावना को स्थिर, परिमार्जित एवं समृद्ध बनाता है परन्तु वर्तमान में देखने व सुनने में आता है कि अधिकांश व्यक्ति उपरोक्त पवित्र भावना एवं उद्देश्य से रहित होकर पूजा करते हैं। केवल गेंद की पूजा करने से एवं देखने से स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता है। उसी प्रकार पवित्र भावना एवं उद्देश्य से रहित होकर केवल मूति पूजा करते हैं, द्रव्य पूजा करते हैं तो वे न पुण्य सम्पादन कर सकते हैं न मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। केवल पूजा द्रव्य को एक थाली से दूसरी थाली में डालने से पूजा नहीं होती है। यदि ऐसा करने मात्र से पूजा हो जाती तो दुकानदार, व्यापारी आदि जो लेनदेन करते हैं, उससे वे सबसे बड़े पुजारी हो जाते, क्योंकि वे भी बहुत से द्रव्य को इधर से उधर करते रहते हैं। परिवर्तित करते रहते हैं, बेचते रहते हैं।

पंचपरमेष्ठी से पवित्र क्षेत्र की पूजा करना क्षेत्र पूजा है। इस क्षेत्र में भी नदी, नाले, पहाड़, पत्थर की पूजा नहीं की जाती है। परन्तु उन महापुरुषों के गुणस्मरण पूर्वक उस क्षेत्र की वंदना पूजा की जाती है क्योंकि वह क्षेत्र उन महापुरुषों से पवित्र हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है कि-

इक्षोर्विकार रसयुक्त गुणेन लोके पिष्टोथिकं मधुरताम्रुपयाति यव्दत्।
तद्वच्च पुण्यपुरुषैरूषितानि नित्यं जातानि तानि जगतामिह पावनानि।।

जिस प्रकार लोक मे गुड़ या शक्कर के रस से चूर्ण अधिक मधुरता को प्राप्त होता है उसी प्रकार पूज्य पुरुषों से निरन्तर अधिष्ठित तीर्थ, जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं। भगवती आराधना में कहा भी है-

गिरि णदियादि तिथ्यापि तपोधणेहिं जदि उसिदा।

गिरि (पर्वत) नदी आदि तीर्थ तब बन जाते हैं जब तपोध्सन के द्वारा सेवन किये जाते हैं अर्थात् जब तपोधन किसी पर्वत आदि में साधना करते हैं तब वे पर्वतादि तीर्थ बन जाते हैं। उस क्षेत्र की वंदना से पूजा से तथा दर्शन से उन महापुरुषों का गुण स्मरण होता है जिससे दर्शन विशुद्ध होती है नये नये संवेग और वैराग्य उत्पन्न होते हैं। भगवती आराधना में कहा भी है-

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पमिती य तिथ्यचिण्हहिसिहोऔ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्ध दंसणं होदि।। (भगवती आराधना)

जिनदेवों के जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान और समशवरण के चिन्ह मानस्तंभ का स्थान निषीधिका स्थान देखने वाले के सम्यक्रूप से निर्मल सम्यग्दर्शन होता है।

यदि तीर्थ क्षेत्र, अतिक्षय क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र मंदिर आदि में जाकर उपयुक्त भावना को नहीं भाते हैं तो वह क्षेत्र पूजा यथार्थ पूजा नहीं है। वर्तमान में जो अनेक व्यक्ति क्षेत्र आदि में केवल मनोरंजन के लिए जाते हैं। वहां जाकर इधर उधर घूमेंगे, सिनेमा देखेंगे, होटल में खायेंगे, कलह करेंगे दादागिरि नेतागिरी करेगे। अभी तो और नई व गंदी परम्परा प्रारंभ हो गयी है तीर्थ क्षेत्र में सामूहिक शदियां करते है। उन शादियों में अश्लील गाने व नत्य करते हैं, अभक्ष भक्षण करते हैं, रात्रि भोजन करते हैं। कुछ स्थानों में शराब आदि पीते हैं। यह सब कार्य के लोभ से एवं नाम बड़ाई के कारण करते हैं। ऐसी गंदी परम्परा का पूर्ण रूप से निषेध होना चाहिये।

जिस काल में तीर्थंकर जैसे आध्यात्मिक पुरुष जन्मादि ग्रहण करते हैं, उस काल में जो पूजा की जाती है उसे काल पूजा कहते हैं। काल पूजा में गुणानुराग पूर्वक आध्यात्मिक गुणों की पूजा की जाती है न कि दिन रात, घंटा, महीनों, वर्षों आदि की पूजा की जाती है। काल पूजा को सामान्यतः पर्व कहते हैं। प्रत्येक धार्मिक पर्व के पीछे एक प्रेरणाप्रद इतिहास रहता है, उद्देश्य रहता है। उस पवित्र उद्देश्य को प्राप्त करना काल पूजा या पर्व का लक्ष्य है न कि केवल अष्ट द्रव्य चढ़ा देना उसका उद्देश्य है। परन्तु वर्तमान में पर्व की जो पवित्रता है वह नष्ट होती जा रही है। पर्व के दिन में सामान्यतः लोग अच्छे-अच्छे कपड़े पहन लेते है, मिठाइयां खा लेते हैं, भीड़ लगाकर

मनोंरजन कर लेते हैं। कभी कभी तो पर्व के दिन में भीड़ का लाभ उठाकर झगड़ा, कलह, मारपीट, लूटपाट, बलात्कार, गंदी राजनीति, दादागिरी करते हैं। यह सब पर्व के नाम पर कलंक है, अभद्रता है अनागरिकता है।

भाव पूजा ही यथार्थ पूजा है। उपर्यक्त नामादि पूजा में भी भाव पूजा ही अभिप्रेत है। भावों की निर्मलता से युक्त होकर पंचपरमेष्ठी की भक्ति आराधना, सेवा, वैयावृत्ति करना भाव पूजा है। इस पूजा का उद्देश्य पूर्वोक्त पूजा के समान पंचपरमेष्ठी के गुणों को प्राप्त करना होता है। भाव पूजा से रहित सम्पूर्ण पूजायें प्राण रहित शरीर के समान विद्युत से रहित बल्ब के समान, धर्म में भाव की प्रधानता होती है। पूर्वाचार्य ने कहा भी है-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन बान्धव। दुःख पात्रं।
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

(38)(कल्याण मंदिर स्तोत्र

मैं आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है कि मैंने भक्तिपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया है। केवल आडम्बर रूप से ही उन कामों को किया है न कि भावपूर्वक भी । यदि भाव से करता तो कभी दुःख नहीं उठाने पड़ते। अंतरंग परिणाम ही पुण्य बन्ध, पाप बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष के लिये कारण होता है। इसलिये पाप की निर्जरा के लिये पुण्य के उपार्जन के लिये परम्परा से मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रशस्त भाव चाहिये। आत्मानुशासन में कहा भी है-

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयौं प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपययश्च सुविधेयः।।(23)

विद्वान् मनुष्य निश्चय से आत्मा परिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण बतलाते हैं। इसलिये अपने निर्मल परिणाम के द्वारा पूर्वसंचित पाप की निर्जरा, नवीन पाप का निरोध और पुण्य का उपार्जन करना चाहिये।

विशेषार्थ : 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' (तत्वा 6-3) इस सूत्र में आचार्यप्रवर श्री उमास्वामी ने यह बतलाया है कि शुभ योग पुण्य तथा अशुभ योग पाप के आस्रव

का कारण है। यहां शुभ परिणाम से उत्पन्न मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शुभयोग तथा अशुभ परिणाम से उत्पन्न मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति को अशुभ योग समझना चाहिए। इस प्रकार जब पुण्य का कारण अपना ही शुभ परिणाम तथा पाप का कारण भी अपना ही अशुभ परिणाम ठहरता है तब आत्महित अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अपने परिणाम सदा निर्मल रखने चाहिये जिससे कि उनके पुण्य का संचय और पूर्वसंचित पाप का विनाश होता रहे। निम्न में पूर्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित नाम पूजा आदि का विशेष वर्णन कर रहा हूँ।

1. नाम पूजा

उच्चरिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा।(382)

अरहन्तादिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं वह नाम पूजा जानना चाहिये।

2. स्थापना पूजा

सब्भावा सब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता।
सायारवं तवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा।।(383)
अक्खय वराउओ वा अमुगो एसोत्ति विणयबुद्धिए।
संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा।।(384)

जिन भगवान् ने सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना यह दो प्रकार की स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तु में अरहन्तादिके गुणों का जो आरोपण करना सो यह पहली सद्भाव स्थापना पूजा है और अक्षत्, वराटक (कौड या कमल गट्टा) आदि में अपनी बुद्धि से यह अमुक देवता है ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना सो यह असद्भाव स्थापना पूजा जानना चाहिये।

3. द्रव्य पूजा

दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा।
दव्वेणगंध सलिलाई पुव्व भाणिएण कायव्वा।।(448)
तिविहा दव्वे पूजा सच्चित्ताचित्त मिस्स भेएण।

पच्चक्ख जिणाइणं सचित्तपूजा जहाजोग्गं।।(449)

तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्सवि अचित्त पूजा सा।

जा पुण दोण्हं कीरई णायवा मिस्स पूजा सा।(450)

अट्टवा आगम णोआगमाई भेएण बहुविहं दव्वं।

णाउण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण।।(45)

जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की पूजा की जाती है उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिये। वह द्रव्य से अर्थात् जल गन्धादि पूर्व में कहे गये पदार्थ समूह से करना चाहिये।

द्रव्य पूजा सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित पूजा है। उसके अर्थात् जिन तीर्थंकर आदि के शरीर की द्रव्य श्रुत अर्थात् कागज आदि पर लिपिबद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है वह अचित्त पूजा है और जो दोनों की पूजा की जाती है वह मिश्र पूजा जानना चाहिये।

अथवा आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के द्रव्य निक्षेप को जानकर शास्त्र प्रतिपादित मार्ग से द्रव्य पूजा करना चाहिये।

गन्ध पुष्प धूपाक्षतादिदानं अर्हदाघुद्दिश्य द्रव्यपूजा।

अभ्युथान प्रदक्षिणी करण प्रणमनादिका काय क्रिया च।

वाचा गुणसंस्तवनं च।। भ.आ.

अर्हदादिकों के उद्देश्य से गंध पुष्प धूप अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्य पूजा है तथा उठ करके खड़े होना,तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरह शरीर क्रिया करना वचनों से अर्हदादिक के गुणों को स्तवन करना यह भी द्रव्य पूजा है।

4. क्षेत्र पूजा

जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु।

णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वहाणेण कायव्वा।।(452)

जिन भगवान् की जन्म कल्याण भूमि केवल ज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थ चिन्हस्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण भूमियों में पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना चाहिये यह क्षेत्रपूजा कहलाती है।

5. काल पूजा

गब्भावयार-जम्माहिसेय णिक्खमण णाण णिव्वाणं।

जम्हिदिणे संजादं जिणण्हवणं तद्धिणे कुज्ज।।(453)

णंदीसर ट्टदिवसेसु तहा अण्णेसु उचिय पव्वेसु।

जं कीरई जिणमहिमा विण्णेया कालपूजा सा।।(455)

जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण कल्याणक ज्ञानकल्याणक और निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उस दिन भगवान का अभिषेक करें तथा इस प्रकार नंदीश्वर पर्व के आठ दिनों में तथा अन्य भी उचित पर्वों में जो जिन महिमा की जाती है वह कालपूजा जानना चाहिये।

6. भाव पूजा

काऊणाणं तच अट्टयाइ गुणकित्तणं जिणाइणं।

जं वंदणं तियालं कीरई भावच्चणं तं खु।।(456)

पंचणमोक्कार यएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए

अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि।।(457)

जं झाइज्जइ झाणं भाव महं तं विणिदिट्ठं।

परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है उसे निश्चय से भावपूजा जानना चाहिये अथवा पंचणमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप करें। अथवा जिनेन्द्र के स्तोत्र अथवा गुणगान को भाव पूजा जानना चाहिये और जो चार प्रकार का ध्यान किया जाता है वह भी भाव पूजा है।

भाव पूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं।

मन से उनके (अरहंतादिके) गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है।

(1) नाम मंगल-

अरिहाणं सिद्धाणं आइरियउवज्झायाइसाहूणं।
णामाइं णाममंगलमुद्दिट्ठं वीयराएहिं।।(19)

वीतराग भगवान से अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनके नामों को नाम मंगल कहा है।

(2) द्रव्यमंगल-

ठावणमंगलमेदं अकट्टिमणि जिणबिंबा।
सुरिउवज्झयसाहुदेहाणि हु दव्वमंगयं।।(20)

जिन भगवान् के जो अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिबिम्ब हैं, वे सब स्थापनामंगल है तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्य मंगल हैं।

(3) क्षेत्रमंगल-

गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्य।
उप्पत्ती इयमहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं।।(21)

गुणपरिणत आसनक्षेत्र , अर्थात् जहां पर योगासन वीरासन आदि विविध आसनों से तदनुकल ध्यानाभ्यास आदि अनेक गुण प्राप्त किये जाते हों ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा का क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र, इत्यादिरूप से क्षेत्रमंगल बहुत प्रकार का है।

एदस्स उदाहरणं पावणगरुज्जयंतचंपादी।
आउट्टहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयधणूणि। (4)
देहअवट्टिदकेवलणाणा वट्टुद्धगयणदेसो वा।
सेठि धणमेत्त अप्पदेस गदलोयपूरणापुण्णा। (23)
विस्साणं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेतं।
जस्सि काले केवलणाणा दिमंगलं परिणमति। (24)
परिणीक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिप्पवेसादी।
पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं। (25)

इस क्षेत्रमंगल के उदाहरण पावानगर, उर्जयन्त (गिरनार पर्वत) और चम्पापुर

आदि हैं। अथवा साढ़ेतीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुषप्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश प्रदेशों को क्षेत्रमंगल समझना चाहिये अथवा, जगत्श्रेणी के घनमात्र अर्थात् लोकप्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरणसमुदघात द्वारा पूरित सभी (ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक्) लोकों के प्रदेशों भी क्षेत्रमंगल है।

जिस काल में जीव केवलज्ञानादिरूप मंगलमय पर्याय को प्राप्त करता है उसको तथा परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षाकाल केवलज्ञान के उद्भव का काल और निवृत्ति अर्थात् मोक्ष के प्रवेश का काल यह सब पापरूपी मलके गलाने का कारण होने से कालमंगल कहा गया है।

एवं अणेयभेय तं कालमंगलं पवरं।
जिणमहिमा संबंध णंदीसरदीवपहुदीओ। (26) ति.प.

इस प्रकार जिन महिमा से सम्बन्ध रखनेवाला वह श्रेष्ठ कालमंगल अनेक भेदरूप है जैसे नन्दीश्वर द्वीपसंबंधी पर्व आदि।

(6) भावमंगल-

मंगल पज्जाएहिं उवलविखयजीवदव्वमेत्तं च।
भावं मंगलम्.....। (27)

वर्तमान में मंगलरूप पर्यायों से परिणत जो शुद्ध जीवद्रव्य है वह भाव मंगल है।

नामादि पूजा एवं मंगल में से भावपूजा एवं मंगल ही यथार्थ से पूजा तथा मंगल है। इसके बिना अन्य नामादि पूजा व्यर्थ/ निरर्थक / लौकिक व्यवहार है। इसे स्पष्ट करने के लिये कुछ आगम प्रमाण निम्न में प्रस्तुत कर रहा हूँ-

प्रमाण-नय-निक्षेपैयेदिर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चा युक्तवद्भाति तस्ययुक्तं य युक्तवत्।।10

जिस पदार्थ का प्रत्याक्षादि प्रमाणों के द्वारा, नैगमादि नयों के द्वारा और नामादि निक्षेपों के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से विचार नहीं किया जाता है, वह पदार्थ कभी युक्त (संगत) होते हुये भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुये भी युक्त की तरह प्रतीत होता है।

ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते।

नयो ज्ञातुरभि प्रायो युक्तितोऽर्थः-परिग्रहः।।

विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। इस प्रकार युक्ति से अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा पदार्थ का ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये।

अतएव नय का निरूपण करना आवश्यक है।

अब आगे नामादि निक्षेपों का कथन करते हैं। उनमें से अन्य निमित्तों की अपेक्षा रहित किसी की 'मंगल' ऐसी संज्ञा करने का नाम मंगल कहते हैं। नाम निक्षेप में संज्ञा के चार निमित्त होते हैं, जाति, द्रव्य गुण और क्रिया। उन चार निमित्तों में से तद्भव और सादृष्य लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते हैं।

विशेषार्थः-जिसमें विवक्षित-द्रव्यगत भूत, वर्तमान और भविष्य काल संबन्धी पर्यायें अन्वय रूप से होती है उस सामान्य को, अथवा किसी एक द्रव्य की त्रिकालगोचर अनेक पर्यायों में रहने वाले को, अन्वय को तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे मनुष्य की बालक, युवा और वृद्ध अवस्था में मनुष्यत्व-सामान्य का अन्वय पाया जाता है तथा एक ही समय में जाना व्यक्तिगत सदृश परिणाम को सादृष्य सामान्य या तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे, रंग, आकार आदि से भिन्न भिन्न प्रकार की गायों में गोत्व-सामान्य का अन्वय पाया जाता है।

द्रव्य निमित्त के भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय द्रव्य उनमें अलग अलग सत्ता रखने वाले द्रव्यों के मेल से जो पैदा हो उसे संयोग द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्य में स्वयमेव हो अर्थात् कंथचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय द्रव्य कहते हैं। जो पर्याय आदिक से परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं।

विशेषार्थः-इसका अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है कि उत्पाद और व्यय की विवक्षा से गुण पर्यायों से कथंचित् विरुद्ध अर्थात् भिन्न हैं, और ध्रौव्य-विवक्षा से टंकोत्कीर्ण न्यायानुसार अभिन्न अर्थात् अविरुद्ध भी है।

परिस्पन्द अर्थात् हलन-चलन रूप अवस्था को क्रिया कहते हैं।

उन चार प्रकार के निमित्तों में से गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ और वेत इत्यादि जाति निमित्तक नाम हैं, क्योकि गौ, मनुष्यादि संज्ञाये गौ मनुष्यादि जाति में उत्पन्न होने से

प्रचलित हैं। दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग द्रव्य निमित्तक नाम है क्योंकि दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतंत्र सत्ता वाले-पदार्थ है और उनके संयोग से दंडी, छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहार में आते हैं। गलगण्ड, काना, कुबड़ा, इत्यादि समवाय द्रव्यनिमित्तक नाम हैं। क्योंकि जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नाम का उपयोग किया गया है उससे गले का गण्ड भिन्न सत्तावाला नहीं है। इसी प्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये। कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण निमित्त नाम है; क्योंकि कृष्ण आदि गुणों के निमित्त से उन गुण वाले में ये नाम व्यवहार में आते हैं। गायक, नर्तक इत्यादि नाम व्यवहार में आते हैं इस तरह जाति आदि उन चार निमित्तों को छोड़कर संज्ञा की प्रवृत्ति में अन्य कोई निमित्त नहीं है।

तत्थ ठ्ठवण-मंगल णाम आहदि-णामस्स अण्णस्स
सोयमिदि ठ्ठवणं ठ्ठवणा णाम सा दुविहा सब्भावासब्भ भाव
ठ्ठवणा चेदि। तत्थ आगारवंतए वत्थुम्भि सब्भाव
ठ्ठवणा। तव्विस्वरीया असम्भाव ठ्ठवणा।
मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रूवं लिहण-खणण-
बंधन-क्खेवणादिएण ठ्ठविदं बुध्दिए आरोविद-गुण-
समूहं सब्भाव-ठ्ठवणा-मंगलं। बुध्दीए समारोविद-
मंगल-पज्जय परिणद-जीव-गुण-सुरुवक्ख-
वराऽयादयो असब्भाव-ठ्ठवणा-मंगलं।
दव्व मंगलं णाम अगाणय-पज्जाय-विसेसं पडूच्च
गहियाहि-मुहियं दव्वं अतब्भावं वा तं दुविहं, आगम-
णो-आगम दव्वं चेदी। आगमो सिध्दंतो पवयणमिदि
एयट्ठो। आगमादो अण्णो णो आगमो।

उन नामादि निक्षेपों में से अब स्थापना मंगल को बतलाते हैं। किसी नाम को धारण करने वाले दूसरे पदार्थ की 'वह यह है' इस प्रकार स्थापना करने की स्थापना-निक्षेप कहते हैं। वह स्थापना निक्षेप दो प्रकार का है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना। इन दोनों में से, जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार को धारण करने

वाली वस्तु में सद्भावस्थापना समझना चाहिए तथा जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार से रहित वस्तु में असद्भावस्थापना जानना चाहिये।

लेखनी से लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर और खनन अर्थात् छैनी, टांकी आदि के द्वारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आनी के द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे में ढ़लाई आदि के द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुध्दि से अनेक प्रकार के मंगलरूप अर्थ के सूचक गुणसमूहों की कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्याय से परिणत जीव के स्वरूप को अर्थात् आकृति को सद्भावना स्थापना मंगल कहते हैं।

नमस्कारादि करते हुए जीव के आकार से रहित अक्ष अर्थात् शतरंज की गोटों में वराटक अर्थात् कौड़ियों में तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं में मंगल-पर्याय से परिणत जीव के गुण या स्वरूप की बुद्धि से कल्पना करना अतदाकार स्थापना मंगल है।

विशेषार्थः-जैसे शतरंज आदि के खेल में राजा, मंत्री आदि की और खेलने की कौड़ी व पासों में संख्या की आरोपणा होती है, उसी प्रकार मंगल पर्यायपरिणत जीव के गुणों की बुद्धि के द्वारा की हुई स्थापना को असद्भावस्थापना मंगल कहते हैं।

अब द्रव्य मंगल का कथन करते हैं। आगे होने वाली पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुये द्रव्य को (उस पर्याय की अपेक्षा) द्रव्य निक्षेप कहते हैं अथवा, वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को ही द्रव्य निक्षेप कहते हैं। वह द्रव्य निक्षेप आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार का है।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं। आगम से भिन्न पदार्थों को नो मंगल-प्राभृत अर्थात् मंगल विषय का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को जानने वाला, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव को आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं अथवा मंगल विषय के प्रतिपादक शास्त्र की शब्द रचना को आगम द्रव्य मंगल कहते हैं। मंगल विषय को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र की स्थापना रूप अक्षरों की रचना को भी आगम द्रव्य मंगल कहते हैं।

विशेषार्थः-आगे होने वाली पर्याय के सन्मुख, अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्याय की विवक्षा से द्रव्य को द्रव्य निक्षेप कहा है, और तद्विषयक् ज्ञान को आगम कहा है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो

वर्तमान में मंगलविषयक शास्त्र के उपयोग से रहित हो वह आगम द्रव्य मंगल है। यहां पर जो मंगल विषयक शास्त्र की शब्द रचना अथवा मंगल शास्त्र की स्थापना रूप अक्षरों की रचना को आगम द्रव्य मंगल कहा है वह उपचार से ही समझना चाहिये, क्योंकि मंगल विषयक शास्त्र में मंगलविषयक शास्त्र की शब्द रचना और मंगलशास्त्र की स्थापना रूप अक्षरों की रचना ये मुख्य रूप से निमित्त पड़ते हैं। वैसे तो सहकारी कारण शारीरिक और भी होते हैं परन्तु वे मुख्य निमित्त न होने से उनका ग्रहण नो आगम में किया है अथवा, मंगल विषयक शास्त्र ज्ञान से और दूसरें की निमित्तों की अपेक्षा इन दोनों निमित्तों की विशेषता दिखाने के प्रयोजन से इन दोनों निमित्तों का आगम द्रव्य मंगल में ग्रहण कर लिया है।

नो आगम द्रव्यमंगल तीन प्रकार का है, ज्ञायक, शरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त। उनमें जो ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकार का समझना चाहिये। मंगल विषयक शास्त्र का अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल पर्याय का आधार होने से भावि शरीर वर्तमान शरीर और अतीत शरीर, इस प्रकार ज्ञायक शरीर नो-आगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हो जाते हैं। शंका-आधारभूत शरीर में आधेय भूत आत्मा के उपचार से धारण की हुई मंगल-पर्याय से परिणत जीव के शरीर को नो-आगम ज्ञानक शरीर द्रव्य मंगल कहना तो उचित भी है, परन्तु भावी और भूतकाल के शरीर की अवस्था को मंगल संज्ञान देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है क्योंकि उनमें वर्तमान मंगलरूप पर्याय का अभाव है? समाधान-ऐसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्याय का आधार होने से अनागत और अतीत जीव में भी उस जिस प्रकार राजा रूप व्यवहार की उपलब्धि होती है। उसी प्रकार मंगल पर्याय से परिणत जीव का आधार होने से अतीत और अनागत में भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

विशेषार्थः-आगम के सहकारी कारण होने से शरीर को नो आगम कहा गया है और उसमें अन्वय प्रत्यय की उपलब्धि होने से उसे द्रव्य कहा गया है। ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरों में घटित होती है, इसलिये इनमें मंगलपने का व्यवहार हो सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है-

औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर मंगल विषयक शास्त्र के परिज्ञान में सहकारी कारण हैं क्योंकि इनके बिना कोई शास्त्र का अभ्यास ही नहीं कर सकता

है। अब इनमें अन्वय प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते है। जिन शरीर से मैंने मंगल शास्त्र का अभ्यास किया था वहीं शरीर उक्त अभ्यास को पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीर में अन्वय प्रत्यय पाया जाता है। मंगल शास्त्र ज्ञान के उपयोग से रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्वज्ञान की उपयोग दशा में भी होगा, इस प्रकार अनागत ज्ञायक शरीर में अन्वय प्रत्यय की उपलब्धि बन जाती है इसलिये वर्तमान शरीर की तरह अतीत और अनागत शरीर में भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

जो जीव भविष्यकाल में मंगल-शास्त्र का जानने वाला होगा, अथवा मंगलपर्याय से परिणत होगा उसे भव्यनोआगम द्रव्य मंगल निक्षेप कहते हैं।

विशेषार्थ–ज्ञायक शरीर के तीन भेद किये हैं। उसका एक भेद भावि भी है परन्तु इस भावि को भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि ज्ञायक शरीर के भावि विकल्प में ज्ञाता के आगे होने वाले शरीर को ग्रहण किया है, और यहां पर भविष्य में होने वाला तद्विषयक शास्त्र का ज्ञाता ग्रहण किया है।

कर्मतद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगल के भेद से तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य मंगल दो प्रकार का है। उनमें दर्शन विशुद्धि आदि सोलह प्रकार के तीर्थंकर नामकर्म के कारणों से जीव के प्रदेशों से बंधे हुये तीर्थंकर नामकर्म को कर्मतद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य मंगल कहते हैं क्योंकि वह भी मंगलपने का सहकारी कारण है।

नो कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य मंगल दो प्रकार का है। एक लौकिक नो कर्मतद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नो कर्मतद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यमंगल।

इन दोनों में से लौकिक मंगल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें सिद्धार्थ अर्थात् पीले सरसों जल से भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेतकर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं और बालकन्या तथा उत्तम जाति का घोड़ा आदि सचित्त मंगल है।

विशेषार्थ–पंचास्तिकाय की टीका में भी जयसेन आचार्य ने इन पदार्थों को मंगलरूप मानने में भिन्न-भिन्न कारण दिये हैं। वे इस प्रकार है, जिनेन्द्रदेव ने व्रतादिक

के द्वारा परमार्थ को प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोक में सिद्धार्थ अर्थात् सरसों मंगल रूप माने गये। जिनेन्द्रदेव सम्पूर्ण मनोरथों से अथवा केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं इसलिये पूर्ण कलश मंगलरूप से प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थंकर वंदना करने योग्य है, इसलिये भरत चक्रवर्ती ने वदनमाला की स्थापना की। अरहंत सभी जीवों का कल्याण करने वाले होने से जग के लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार है, इसीलिये छत्र मंगलरूप माना गया है। ध्यान, शुक्ल लेश्या इत्यादि श्वेतवर्ण माने गये हैं। इसलिये श्वेतवर्ष मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्र देव के केवलज्ञान में जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार दर्पण में भी अपना बिम्ब झलकता है। अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोक में मंगल स्वरूप है, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभाव से रहित होने के कारण लोक में मंगल मानी गई है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने कर्म शत्रुओं पर विजय पायी उसी प्रकार उत्तम जाति के घोड़े से भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जाति का घोड़ा मंगलरूप माना गया है।

अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र मंगल समझना चाहिए। यहाँ पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होने के कारण अलंकार सहित कन्या को मिश्र मंगल कहा है।

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। अरहंत आदि का अनादि का अनंत स्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो आगमनात्मक व्यतिरिक्त द्रव्यमंगल है। यहाँ पर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहंत आदिक का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वर्तमान पर्याय सहित द्रव्य का भावनिक्षेप में अन्तर्भाव होता है। इसलिये केवल ज्ञानादियुक्त अरंहत के आत्मा की भाव निक्षेप में परिगणना होगी। उसकी द्रव्यनिक्षेप में गणना नहीं हो सकती है। उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायों का भी इस लोकोत्तर नो-आगमद्रव्यमंगल में ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि वे सब पर्यायो भावस्वरूप होने के कारण उनका भी भावनिक्षेप में ही अर्न्तभाव होगा।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद् व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल है। उन चैत्यालयों में स्थित प्रतिमाओं का इस निक्षेप में ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेप में अर्न्तभाव होता है।

शंका-अकृत्रिम प्रतिमाओं में स्थापना का व्यवहार कैसे संभव है?

समाधान-इस प्रकार शंका करना उचित्त नहीं है, क्योंकि अकृत्रिम प्रतिमाओं में भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्र देव है' इस प्रकार के मुख्य व्यवहार की उपलब्धि होती है अथवा अग्नि तुल्य बालक को भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार कृत्रिम प्रतिमाओं में की गई स्थापना के समान यह भी स्थापना है इसीलिये अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं में स्थापना का व्यवहार हो सकता है, उक्त दोनों प्रकार के सचित्त और अचित्त मंगलों को मिश्र मंगल कहते हैं।

गुण परिणत आसन क्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन वीरासन इत्यादि अनेक आसनों से तद्नुकुल अनेक प्रकार के योगाभ्यास जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमण क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र और निर्वाण क्षेत्र मंगल कहते हैं।

आगे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है-

उर्जयन्त (गिरनार पर्वत) चम्पापुर और पावापुर आदि नगर क्षेत्रमंगल हैं अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुषतक के शरीर में स्थित और केवलज्ञानादि से व्याप्त आकाश-प्रदेशों को क्षेत्र मंगल कहते हैं अथवा लोक प्रमाण आत्मप्रदेशों से लोकपूरणसमुद्धात दशा में व्याप्त किये गये समस्त लोक के प्रदेशों को क्षेत्रमंगल कहते हैं।

जिस काल में जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओं को प्राप्त होता है उसे पापरूपी मलका गलाने वाला होने के कारण कालमंगल कहते हैं। उदाहरणार्थ दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण प्राप्ति के दिवस आदि काल मंगल समझना चाहिये। जिन-महिमा सम्बन्धी काल को भी कालमंगल कहते हैं। जैसे - आष्टाह्निक पर्व आदि।

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। वह आगमभावमंगल और नो आगम के भेद से दो प्रकार का है। आगम सिद्धान्त को कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्र का ज्ञाता होते हुये वर्तमान में उसमें उपयुक्त हैं उसे आगमभावमंगल कहते हैं। नो आगमभावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणत भेद से दो प्रकार का है। जो आगम के बिना ही मंगल के अर्थ में उपयुक्त है उसे उपयुक्त नोआगमभावमंगल कहते

हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात् जिनेन्द्रदेव आदि की वंदना, भावस्तुति आदि में परिणत जीव को तत्परिणत नोआगमभाव मंगल कहते हैं।

शंका-इन निक्षेपों में से यहां (इस ग्रन्थावतारूप प्रकरण में) किस निक्षेप से प्रयोजन है?

समाधान-यहाँ पर तत्परिणत नोआगम भावमंगल से प्रयोजन है। शंका-यदि यहाँ तत्परिणत नो आगम भाव मंगल से प्रयोजन था तो अन्य निक्षेपों के कथन करने से यहाँ क्या प्रयोजन है? अर्थात् प्रयोजन के बिना उनका यहाँ कथन नहीं करना चाहिये था।

समाधान-जहाँ जीवादि पदार्थों के विषय में बहुत जाने, वहाँ पर नियम से सभी निक्षेपों के द्वारा उन पदार्थों का विचार करना चाहिये। और जहाँ पर बहुत न जाने, तो वहाँ पर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये। अर्थात् चार निक्षेपों के द्वारा उस वस्तु का विचार अवश्य करना चाहिये।

इस वचन के अनुसार यहाँ पर निक्षेपों का कथन लिया गया।

पूर्वोक्त कथन के मान लेने पर भी, किस प्रयोजन को लेकर निक्षेपों का कथन किया जाता है, इस प्रकार की शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि श्रोता तीन प्रकार के होते हैं। पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ, दूसरा सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थ को जानने वाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थ को जानने वाला। इनमें से पहला श्रोता अव्युत्पन्न होने के कारण विवक्षित पद के अर्थ को कुछ नहीं समझता है। दूसरा 'यहाँ' पर इस पद का कौनसा अर्थ अधिकृत है' इस प्रकार विवक्षित पद के अर्थ में संदेह करता है अथवा प्रकरण प्राप्त अर्थ को छोड़कर और दूसरे अर्थ को ग्रहण करके विपरीत समझता है। दूसरी जाति के श्रोता के समान तीसरी जाति का श्रोता भी प्रकृत पद के अर्थ में या तो संदेह करता है अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है।

इनमें से यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्याय का अर्थी अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वस्तु की किसी विवक्षित पर्याय को जानना चाहता है तो उस अव्युत्पन्न श्रोता को प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत विषय के निराकरण करने के लिये निक्षेप का कथन करना चाहिये। यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है अर्थात् सामान्यरूप से किसी वस्तु का स्वरूप जानना चाहता है तो भी निक्षेपों के द्वारा प्रकृत पदार्थ के

प्ररूपरण करने के लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, विशेष धर्म के निर्णय के बिना विधि का निर्णय नहीं हो सकता है। दूसरी और तीसरी जाति के श्रोता और को यदि संदेह हो तो उनके संदेह को दूर करने के लिये संपूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है। और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तु के निर्णय के लिये संपूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है। कहा भी है-

अवगय णिवारणट्ठंपयदस्स परुवणा निमित्तं च।
संसय विणासणट्ठं खच्चत्तथवधारणट्ठं च।। (15)

अप्रकृत विषय के निवारण करने के लिये, प्रकृत विषय के प्ररूपण के लिये, संशय का विनाश करने के लिये और तत्वार्थ का निश्चय करने के लिये निक्षेपों का कथन करना चाहिये।

राजवार्तिक में भी आचार्य अकलंक देव ने उपर्युक्त विषय का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है-

एवं संज्ञास्वालक्षण्यादिभिरुदृिष्टानां जीवादीनां संव्यवहार विशेषव्याभिचार निवृत्यर्थमाह। - एवं संज्ञा स्वलक्षणादि के द्वारा उपविष्ट जीवादि के संव्यवहार के लिये तथा व्याभिचार दोष की निवृत्ति के लिये कहते हैं-

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्मन्नयासः। (रा वार्तिक)

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जीवादि पदार्थों का न्यास करना चाहिये। इसके द्वारा अर्थ (पदार्थ) जाने जाते हैं वा जो अर्थ के सन्मुख करता है, वह नाम है। जिसकी स्थापना की जाती है, प्रतिनिधित्व किया जाता है। वह स्थापना है, जिसके द्वारा गुण पर्याय प्राप्त की जायेगी या जो भविष्यकाल में गुणों को प्राप्त होगा वह द्रव्य है। जो होता है वह भाव है। इन नामादि का इतरेतर योग में द्वन्द्व समास हैं। नाम स्थापना, द्रव्य भाव के द्वारा जीवादि तत्त्वों का लोक व्यवहार होता है ऐसे तृतिया विभक्ति में तस् प्रत्यय करना चाहिये। क्योंकि जिनेन्द्र व्याकरण के अनुसार आदित्वात् में आदितः अन्यत्वात् में अन्यतः यह तस् प्रत्यय देखा जाता है। अथवा ''तीस'' न्यसनं न्यास्थतः यह भाव में भी तस् प्रत्यय होता है। न्यास का अर्थ निक्षेप होता है। उन जीवादि पदार्थों का न्यास तन्नयास कहलाता है।

प्रश्नः- यह तो नामादि का शब्दार्थ हैः- इन नामादि का लक्षण क्या है?

उत्तरः-लक्षण कहते हैं निमित्तान्तर की अपेक्षा के बिना जो संज्ञा कर्म है वह नाम है। निमित्तान्तर जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया आदि की अपेक्षा के बिना की जाने वाली संज्ञा नाम है। जैसे परमैश्वर्य रूप इन्दन क्रिया की अपेक्षा न करके किसी का भी नाम रखना। वैसे ही जीवनक्रिया की और तत्त्वश्रद्धान रूप क्रिया कि अपेक्षा न करके किसी का जीव एवं सम्यग्दर्शन नाम रखना नाम निक्षेप हैं। यह वह है इस प्रकार के संधत्व से अन्य की व्यवस्थापना करना स्थापना निक्षेप है। यथा परमैश्वर्यलक्षण वाला जो शचिपती इन्द्र है वह यह है इस प्रकार अन्य वस्तु को किसी पदार्थ में प्रतिनिधित्व करना, स्थापना करना स्थापना है। वह स्थापना तदाकार एवं आतदाकार के भेद से दो प्रकार की है। इन्द्राकार प्रतिमा में यह इन्द्र है ऐसी स्थापना तदाकार है। और अक्ष निक्षेप (शतरंज के मोहरों) में यह वह (हाथी, घोड़ा) है ऐसी कल्पना अतद्कार स्थापना है : वैसे ही किसी वस्तु में यह जीव है या सम्यग्दर्शन है ऐसी व्यवस्थापना स्थापना निक्षेप है।

अनागत परिणाम विशेष के प्रति अभिमुख को द्रव्य कहते हैं। जो आगामी पर्याय की योग्यता वाला है-उसको वर्तमान में उस रूप कहना द्रव्य निक्षेप है।

अथवा अतद्भाव द्रव्य कहलाता है। जैसे इन्द्र की प्रतिमा बनाने के लिये काठ को इन्द्रप्रतिमारूप पर्याय के प्रति सन्मुख होने से इन्द्र कहना उसी प्रकार जीव पर्याय का सम्यग्दर्शन पर्याय के प्रति अभिमुख द्रव्यजीव या द्रव्य सम्यग्दर्शन कहा जायेगा।

प्रश्नः- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के प्रति गृहित अभिमुख ऐसा कहना तो युक्त है अतत्परिणामी (मिथ्यादृष्टि) जीव का सम्यग्दर्शन के सन्मुख होना संभव है। परन्तु जीव पर्याय के प्रति गृहीताभिमुख कहना असंभव है क्योंकि आत्मा सदा जीवनपर्याय से युक्त रहता है। यदि पूर्व में जीव नहीं है तो आत्मा अजीव हो जायेगा।

समाधानः- यह कोई दोष नहीं है - क्योंकि मनुष्य जीवादि विशेष की अपेक्षा से यह व्यपदेश है। जैसे मनुष्यपर्याय के सन्मुख होने वाले देव को मनुष्य कहना। आगमद्रव्य और नोआगम द्रव्य के भेद से द्रव्यजीव दो प्रकार का है; जैसे आगमद्रव्य सम्यग्दर्शन और नोआगम द्रव्य सम्यग्दर्शन।

अनुपयुक्त प्राभृतज्ञायी आत्मा आगम द्रव्यजीव कहलाता है अर्थात् जो जीवद्रव्य का वर्णन करने वाले शास्त्र का अभ्यासी तो है परन्तु वर्तमान में उसका उपयोग शास्त्र

के प्रति नहीं है, उसको आगम द्रव्यजीव कहते हैं जो पुरुष सम्यग्दर्शन का वर्णन करने वाले शास्त्र का जानकार तो है पर तत्काल तत्विषयक उपयोग से रहित है वह आगमद्रव्य सम्यग्दर्शन है।

नोआगम द्रव्य तीन प्रकार का है। ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त त्रिकालगोचरा ज्ञाता का शरीर है ज्ञायक शरीर कहलाता है। अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्तमान के भेद से शरीर तीन प्रकार का है। जीवन यह सम्यग्दर्शन परिणाम प्राप्ति के उन्नमुख अथवा पर्यायोन्मुख द्रव्य भावि कहलाता है। तद्व्यतिरिक्त कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। अर्थात् जीवादि प्राभृत के विषय के उपयोग से परिणत जीव के द्वारा उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति आदि शुभ कर्म प्रकृति नोआगम द्रव्यकर्म हैं। उस नोआगम द्रव्यकर्म नोकर्म शरीर के उत्पन्न उपचयं निमित्त पुद्गल द्रव्य के अनेक रूप है। कर्मों के उदय उदीरणा में सहायक कर्म तद्व्यतिरिक्त नोकर्म है जैसे ज्ञान कर्म का सहायक शास्त्र है। वर्तमान उस पर्याय से विशिष्ट द्रव्य को भाव जीव कहते हैं। वर्तमान जीवन पर्याय से उपलक्षित भाव द्रव्यजीव है, सम्यग्दर्शन पर्याय से उपलक्षित जीव भाव सम्यग्दृष्टि है; जैसे इन्द्र नाम कर्म के उदय से अपादित इन्दन क्रिया पर्याय से परिणत आत्मा भाव इन्द्र है।

वह भावनिक्षेप आगम भी पूर्ववत् आगम भाव निक्षेप और नोआगम भाव निक्षेप के भेद से दो प्रकार का है।

जीवादि शास्त्र के उपयोग से विशिष्ट आत्मा आगम है। जीवशास्त्र का अभ्यासी तथा उसके उपयोग में लीन आत्मा आगम भाव जीव है सम्यग्दर्शन सहित आत्मा आगम भाव सम्यग्दर्शन कहलाता है। जीवनादि पर्याय वाला आत्मा नोआगमभाव जीव है। नोआगम भाव जीव भी ज्ञाता का शरीर है, भावि और तद्व्यतिरिक्त भेद से तीन प्रकार का हैं।

शंकाः- संज्ञा कर्म की अपेक्षा अवशेषता होने से नाम और स्थापना में एकत्व है, अर्थात् ये दोनों एक ही है?

समाधानः- नाम स्थापना एक नहीं हैंः- क्योंकि स्थापना में आदरानुग्रह की आकांक्षा होती है।

नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माऽविशेषदिति चेत् न;

आदरानुग्रहाकाङेक्षित्वात् स्थापनायाम्
स्यान्मतम् नामस्थापनयोरेक्त्वं! कुतः?
संज्ञा कर्माविशेषात्! यतो नाम्नि स्थापनायां च
संज्ञाकरणं समानम्! न ह्यकृते नाम्नि स्थाप्यत इति।
तच्च न; कुतः? आदरानुगृदाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायां।
यथा अर्हदिन्द्रस्कन्देश्वरादिप्रतिमासुआदरानुगृहाकाङ्
क्षित्व जनस्य न तथा परिभाषिते वर्तते! ततोऽन्यत्वमनयो;।

शंकाः- नाम और स्थापना में कोई अन्तर नहीं है-दोनों में संज्ञा कर्म समान है, क्योंकि नाम और स्थापना में संज्ञाकरण में कोई विशेषता नहीं है। बिना नाम वाली वस्तु में स्थापना नहीं हो सकती।

समाधानः- यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि स्थापना में आदर और अनुगृह की अभिलाषा होती है जैसी अर्हत्, इन्द्र, गणेश, ईश्वर आदि की प्रतिमाओं के आदर अनुग्रह की प्रवृत्ति होती हैं वैसे आदर और अनुग्रह की प्रवृत्ति नाम वाले अरिहंत, इन्द्र, गणेश आदि में नहीं होती है इसलिये नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में भिन्नता है।

शंकाः- अव्यतिरेकता होने से द्रव्य और भाव में एकत्व है?

समाधानः- नाम स्थापना में एकत्व नहीं है, क्योंकि कंथचित् संज्ञा स्वलक्षण आदि के भेद से उन दोनों में भेद सिद्ध होता है। शंकाकार का कहना है कि द्रव्य के बिना भाव और भाव के बिना द्रव्य उपलब्ध नहीं है, दोनों की सत्ता एक है अतः भाव निक्षेप और द्रव्य निक्षेप में एकत्व है परन्तु हृदय और भाव में सर्वथा एकत्व स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि संज्ञा और स्वलक्षण की अपेक्षा भेद होने से उन दोनों पृथक्त्व है इस लोक में जैसे जिनमें संज्ञा और स्वलक्षणकृत भेद हैं, उनमें नानात्व पाया जाता है वैसे ही द्रव्य और भाव में भी संज्ञा लक्षण आदि कृत भेद होने से पृथक्त्व हैं अर्थात् यद्यपि द्रव्य और भाव की सत्ता पृथक् नहीं है। दोनों में अभेद है, फिर भी संज्ञा लक्षण आदि की दृष्टि से इन दोनों में भिन्नता है।

शंकाः- द्रव्य निक्षेप को प्रथमग्रहण करना चाहिये। द्रव्य पूर्वक ही नामादिक होते हैं। सत्व द्रव्य के ही नामादिक का व्यवहार होता है।

समाधानः- ऐसा कथन उचित नहीं है क्योंकि सर्वलोक व्यवहार संज्ञापूर्वक ही होता है। सर्वलोकव्यवहार का हेतु होने से सर्वप्रथम नाम को ग्रहण किया है। तदात्मकत्व में ही लोक व्यवहार होता है। अनात्मकत्व में वस्तु व्यवहार का विच्छेद हो जाता है तथा स्तुति, निन्दा, राग, द्वेषादि सारी प्रवृत्तियाँ नामाधीन हैं।

जिसका नाम रख लिया गया है उसी की ''यह वही है'' इस प्रकार स्थापना होती है। इसलिये नाम के बाद स्थापना का ग्रहण किया है। जिसका नाम नहीं है जो निर्नाम है उसकी स्थापना (प्रतिनिधित्व) नहीं हो सकती।

पूर्वोत्तर कालवर्ती होने से द्रव्य और भाव का पूर्वोत्तर न्यास किया गया है। क्योंकि द्रव्य का काल पूर्व और भाव का काल उत्तर है। पूर्वकाल द्रव्य का विषय है और उत्तरकाल भाव का विषय है, अतः पूर्व में द्रव्य निक्षेप और उसके बाद भाव निक्षेप ग्रहण किया है।

अथवा तत्त्व (भाव) की प्रत्यासत्ति (निकटता) तथा प्रकर्ष अपकर्ष भेद की अपेक्षा इनका क्रम जानना चाहिए। तत्त्व की निकटता और दूरी की अपेक्षा से नामादि के कथन का क्रम जानना चाहिये। तत्त्व भाव प्रधान है क्योंकि नामादि अन्य के द्वारा भाव की व्याख्या होती है। द्रव्य के साथ भाव का घनिष्ठ संबंध होने से द्रव्य के बाद को ग्रहण किया है। द्रव्य के पूर्व स्थापना का ग्रहण हैं, क्योंकि जिस पदार्थ का अतद्भाव है, उसको उसी रूप में मनवाने में प्रधान हेतु स्थापना है। उसके पूर्व नाम को स्थान दिया है, क्योंकि नाम भावों के प्रति विप्रकष्ट है, अर्थात् नाम भावों से अतिदूर है।

प्रश्नः- विरोध होने के कारण एक जीवादि अर्थ के नामादि चार निक्षेप नहीं हो सकते। जैसे नाम नाम ही है स्थापना नहीं। यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नहीं कह सकते। यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नहीं कह सकते। यदि नाम कहते हैं तो वह स्थापना नहीं हो सकता क्योंकि उनमें विरोध है। उसी प्रकार एक ही जीवादि पदार्थ के और सम्यग्दर्शन आदि के विरोध होने से नामादि का अभाव है।

उत्तरः- यह दोष नहीं है क्योंकि सर्व के व्यवहार के प्रति अविरोध हैं। एक ही वस्तु में लोक व्यवहार में नामादि चारों व्यवहार देखे जाते हैं। जैसे इन्द्र, देवदत्त

इत्यादि नाम है, प्रतिमा आदि में इन्द्र की स्थापना होती है, इन्द्र की प्रतिमा आदि बनाने के लिये लाये गये काष्ठ को भी लोग इन्द्र कहते हैं अर्थात् काष्ठ में ''मैं इन्द्र लाया हूँ'' ऐसा भी कह दिया जाता है। यह द्रव्य की अपेक्षा व्यवहार है अथवा अनागत पर्याय की योग्यता से भी लोक में द्रव्य संव्यवहार देखा जाता है। जैसे आगे होने वाले पर्याय की योग्यता से गर्भस्थ के ही इन्द्र, बालक, आचार्य, सेठ, वैयाकरण, राजा आदि का व्यवहार देखा जाता है तथा शचीपति इन्द्र में भाव व्यवहार प्रसिद्ध है। इस प्रकार एक ही पदार्थ में नाम।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चारों निक्षेप विरुद्ध नहीं है।

अथवाः- ऐसा कहने वाले ने मेरे अभिप्राय को समझा ही नहीं। जैसे शंकाकार ने जो दृष्टांत दिया है कि नाम नाम ही है स्थापना नहीं, यह तो उसका अज्ञानपना है। इससे तो उसके विषय के ज्ञान से शून्यपना ही प्रकट हो रहा है क्योंकि हम ऐसा नहीं कह रहे हैं कि नाम ही स्थापना है किन्तु हमारा तो कथन है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से एक ही वस्तु में चार प्रकार का व्यवहार होता है।

अथवा इनमें अनेकान्त है। हमारी ऐसी एकान्त प्रतिज्ञा नहीं है, नाम है वह स्थापना अवश्य है, हमारा तो कथन यह है कि जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो और नहीं भी हो परन्तु जहाँ स्थापना है, वहाँ नाम भी अवश्य होगा।

प्रश्नः- स्थापना वाले का नाम क्यों होगा?

उत्तरः- मनुष्य ब्राह्मण के समान, जैसे ब्राह्मण है-वह मनुष्य अवश्य होगा, क्योंकि ब्राह्मण में मनुष्य जाति रूप सामान्य अवश्य पाया जाता है- परन्तु जो मनुष्य है वह ब्राह्मण हो भी सकता है-और नहीं भी। क्योंकि ब्राह्मण जातिक विशेष के साथ मनुष्यात्मक सामान्य पर्याय का अविनाभाव संबंध नहीं देखा जाता है। उसी प्रकार जिसकी स्थापना है, उसका नाम अवश्य होता है क्योंकि अकृतनाम वाले की स्थापना नहीं हो सकती है परन्तु नाम की स्थापना भी हो सकती है, और नहीं भी हो सकती, दोनों प्रकार से व्यवहार होता है। इसी प्रकार द्रव्य 'भाव' रूप अवश्य होगा क्योंकि उसकी उस योग्यता का विकास अवश्य होगा। परन्तु भाव 'द्रव्य' हो भी न भी हो दोनों प्रकार से देखा जाता है अर्थात् भाव पर्याय में आगे अमुक योग्यता रहे और न भी रहे अतः नाम स्थापना आदि में परस्पर अनेकान्त है।

अथवा (शंकाकार के) इस कथन में नामादि की सिद्धि होती है। छाया और प्रकाश में काक और उल्लू में पाया जाने वाला सहानवस्थान और व्यवघातक विरोध विद्यमान ही पदार्थों में होता है अविद्यमान काकदन्त, खर-विषाण आदि में नहीं। अतः विरोध की संभावना से ही नामादि चतुष्टय का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसलिये नामादि चतुष्टय के विरोध का कथन करने वाले के नामादि का अभाव सिद्ध कैसे हो सकता है?

अथवा नामादि आत्मक या अनात्मक दोनों ही विरोधों में अविरोध है। जो नामादि चतुष्टय का विरोध नामादि आत्मक है कि अनात्मक है दोनों ही प्रकार से अविरोध है। क्योंकि विरोध यदि नामादि रूप है तो वह उनके स्वरूप का भी विरोध होगा तो नामादिक का अभाव जाने से विरोध भी नहीं रहेगा। इसलिये अर्थान्तर होने से नामाद्यात्मक विरोध नामादिक का नहीं है। जो नामादि आत्मक नहीं है वह अर्थान्तर है, इसलिये विरोधक नहीं है। यदि अर्थान्तर भाव में भी विरोध होगा तो सभी पदार्थ परस्पर विरोधी हो जायेंगे वे एक दूसरे के विरोधी होते नहीं इसलिये नामादि चतुष्टय के विरोध का अभाव है अर्थात् कोई भी वस्तु विरोधी होगी तो उसका कुछ न कुछ नाम तो रहेगा, तब नाम का विरोध किससे होगा?

प्रश्नः- तादगुण्य (वर्तमान में उसी रूप से रहना) होने से केवल भाव निक्षेप को ही मानना चाहिये?

उत्तरः- केवल भाव निक्षेप को स्वीकार करने से इतर व्यवहार की निवृत्ति हो जायेगी। शंकाकार का कहना है कि भाव निक्षेप में तादगुण्य है।

- अर्थात् जीवानादिगुण जिसके हैं वह तद्गुण है और तद्गुण का भाव तादगुण्य है। भावनिक्षेप में वस्तु के गुण पाये जाते हैं, इसलिये इस भाव निक्षेप को ही प्रमाण (सत्य) कहा जा सकता है, नामादि को नहीं, परन्तु इस प्रकार का कथन उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर नाम, स्थापना, और द्रव्य के आश्रय से होने वाले जितने भी लोक व्यवहार हैं उन सबका लोप हो जायेगा। अर्थात् लोकव्यवहार में बहुभाग तो नामादि तीन निक्षेपों का ही है अतः केवल भाव निक्षेप को प्रमाण मानना उचित नहीं है।

नाम आदि निक्षेपों के व्यवहार को उपचार से स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि उपचार से मानने से तद्गुणपने का अभाव हो जाता है। शंकाकार का कहना है कि

भाव को ही प्रमाण स्वीकार करने पर भी नामादि आश्रित होने वाले व्यवहार का लोप नहीं होता क्योंकि जैसे उपचार से बच्चे में सिंहादि का व्यवहार होता है वैसे ही उपचार से नाम निक्षेप आदि का व्यवहार हो जायेगा। परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि बच्चे में क्रूरता, शूरता आदि गुणों का एकदेश देखकर ही उपचार से सिंह शब्द का व्यवहार उचित है-परन्तु नामादि निक्षेप में तो जीवन आदि गुणों का एकदेश भी नहीं पाया जाता अतः नामाद्याश्रित व्यवहार और औपचारिक भी नहीं कहे जा सकते। इसलिये व्यवहार की निवृत्ति हो जायेगी।

यदि नामादि व्यवहार को औपचारिक कहा जाता है तो गौण और मुख्य में मुख्य का ही ग्रहण होता है। इस नियम के अनुसार मुख्य भाव का ही संप्रत्यय होगा अर्थात् मुख्य के संप्रत्यय होने का प्रसंग आयेगा; औपचारिक नामादि का नहीं। क्योंकि अर्थ प्रकरणादि विशेष लिंग के अभाव में सर्वत्र कृतसंगत (मुख्य) में ही अविशिष्ट संप्रत्यय होता है इसलिये नामादि में उपचार से व्यवहार मानना उचित नहीं है।

''कृत्रिम और अकृत्रिम में पदार्थों में कृत्रिम का ही बोध होता है'' यह नियम भी सर्वथा एक रूप नहीं है क्योंकि उभयगति में पायी जाती है।

प्रश्नः- कृत्रिम और अकृत्रिम में लोकव्यवहार कृत्रिम (रखा हुआ नाम) में ही होता है-जैसे गोपाल को लाओ, कटेजक को बुलाओ ऐसा कहने पर जिसका नाम गोपाल या कटेजक है उसी को बुलाया जाता है। जो गायों को पालता है या कट (चटाई) पर पैदा हुआ है, उसे नहीं लाया जाता है; उसी प्रकार नामादि में भी जिसका जीव सम्यग्दर्शन- आदि नाम है (संज्ञा) है उसी का बोध होता है। भाव सम्यग्दर्शन भाव जीवादि का नहीं।

समाधानः- नामादि का ज्ञान होता है, ऐसा एकान्त नहीं है; उसमें उभयगति देखी जाती है क्योंकि लोक में कृत्रिम अर्थ और प्रकरण से संप्रत्यय होता है, इस समय इसका यह प्रकरण यह या अर्थ होना चाहिये ऐसा जानकर अर्थ किया जाता है। उसमें उभयरूप से प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे किसी प्रकरण को नहीं जानने वाले ग्रामीण व्यक्ति या अतिथि से 'गोपाल को लाओ' ऐसा कहने पर उसकी दोनों गति होगी वह गोपाल नाम व्यक्ति को जिस प्रकार लायेगा, उसी प्रकार गाय के पालने वाले को भी ला सकता है।

अथवा इसमें अनेकान्त है। यह एकान्त नियम नहीं है कि नाम कृत्रिम का ही होता है, अकृत्रिम का नहीं क्योंकि इसमं अनेकान्त है। सामान्य की अपेक्षा नाम अकृत्रिम है, और विशेष की अपेक्षा नाम कृत्रिम है।

अर्थात् सामान्य गेहूँ जौ आदि नाम अकृत्रिम है और विशेष देवदत्तादि नाम कृत्रिम हैं। इसी प्रकार स्थापना आदि का भी अकृत्रिम-कृत्रिम को प्रति अनेकान्त हैं। 'कृत्रिम और अकृत्रिम' में कृत्रिम का बोध होता है' इस कथन का खंडन हो जाता है।

अथवा नामादिक का न्यास दो नयों की अपेक्षा से होता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय दो प्रकार का है। उन दोनों नयों का विषय नामादि का लोकव्यवहार है। इनमें सामान्यात्मक होने से नाम, स्थापना, और द्रव्य निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और परिणति (पर्याय या विशेष) प्रधान होने से भाव पर्यायार्थिक नय का विषय है। इससे क्या प्रयोजन है? गौण और प्रधान में प्रधान का ज्ञान होता है तथा कृत्रिम और अकृत्रिम में कृत्रिम संप्रत्यय होता है। यह नियम नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक विषय में नयभेद से सिद्धि होती है। नयों की अपेक्षा सभी निक्षेप मुख्य भी हो जाते हैं और गौण भी हो जाते हैं।

प्रश्नः- नामादि का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में अर्न्तभाव हो जाता है और उन दोनों नयों का कथन आगे होने से पुनरूक्ति दोष का प्रसंग आयेगा। जब नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है और भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है, इसलिये नामादि निक्षेपों का नयों में अन्तर्भाव हो जाने से और नयों का विकल्प आगे कहेंगे ही अतः यहाँ निक्षेपों का कथन करने से पुनरूक्ति दोष प्राप्त होता है।

उत्तरः- शिष्यों के मतिभेद के अधीनत्व से (शिष्यों को समझाने के अभिप्राय से) दो आदि नयों के विकल्प का कथन करना दोषयुक्त नहीं है अर्थात् शिष्यों को समझाने के लिये दो नयों का संक्षेप तथा विस्तार से कथन किया जाता है। जो बुद्धिमान शिष्य हैं, वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों के द्वारा ही सभी नयों के वक्तव्य प्रतिपाद्य अर्थ को ज्ञान लेते हैं, उनकी अपेक्षा पृथक्-पृथक् करना प्रयोजनभूत नहीं है परन्तु जो मन्दबुद्धि शिष्य हैं उनके लिये तीन, चार, पाँच आदि भेदों से नयों और निक्षेपों का कथन करना उपयुक्त है अतः विषय और विषयी का विशेष ज्ञान कराने के

लिये नामादि निक्षेपों का कथन करने से पुनरूक्ति दोष नहीं आता है।

प्रश्नः- प्रकरण होने से ''तत्'' शब्द का ग्रहण निष्प्रयोजन है अर्थात् इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र का प्रकरण है इसलिये नामादि निक्षेपों का सम्बन्ध उनके साथ ही जायेगा अतः सूत्र में ''तत्'' शब्द का ग्रहण निरर्थक है। यदि तुम कहो कि ''तत्'' शब्द के बिना प्रत्यात्र होने से जीव अजीवादि सात तत्वों को ग्रहण करने का प्रसंग आयेगा, सम्यग्दर्शन का नहीं क्योंकि अनन्तर की विधि होती है और अनन्तर का ही निषेध। तो ऐसा भी नहीं क्योंकि सम्यग्दर्शन का ग्रहण होगा अर्थात् इस शास्त्र का आरम्भ सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यकचारित्र का स्वरूप समझाने के लिये है, अतः सम्यग्दर्शनादि तीनों का प्रधानता से उपदेश है और सम्यग्दर्शनादि का विषय होने से जीवादि सात तत्वों का गौणरूप से कथन है। इसलिये ''तत्'' शब्द के बिना ही सम्यग्दर्शनादि तीनों की प्रधानता होने से नामादिक के द्वारा सम्बन्ध ही हो जाता है।

उत्तरः- यद्यपि सूत्र में ''तत्'' शब्द के बिना भी सम्यग्दर्शनादि का प्रकरण होने से सम्यग्दर्शनादि के साथ नामादि का सम्बन्ध हो जाता है फिर भी प्रधान सम्यग्दर्शनादि और गौणभूत जीव अजीवादि सात तत्वों का नामादिक के साथ सम्बन्ध द्योतन करने के लिये विशेषरूप से तत् शब्द का ग्रहण किया है अथवा जीवादि सम्यग्दर्शन के विषयत्व से विशेषण है इसलिये प्रकृत सम्यग्दर्शन आदि बाधित नहीं होते। विशेष बात प्रकरणागत सामान्य में बाधा नहीं दे सकती। इस नियम के अनुसार विषय विशेष के रूप में कहे गये जीवादि पदार्थ प्रकरणागत सम्यग्दर्शनादि के ग्रहण के बाधक नहीं हो सकते।

अथवा- सर्व भावों को ग्रहण करने के लिये 'तत्' शब्द को ग्रहण किया है अर्थात् अप्रधानभूत जीवादि और प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादि सर्व पदार्थों का अधिगम करने के लिये सूत्र में तत् शब्द का प्रयोग किया। यदि 'तत्' शब्द का प्रयोग नहीं करते तो प्रधानभूत सम्यग्दर्शन आदि का ही नामादि निक्षेपों के साथ सम्बन्ध होता। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन और जीव द्रव्य में नामादि चार निक्षेप कहे हैं, उसी प्रकार अजीवादि तत्वों में एवं सम्यग्ज्ञान और चारित्र में भी नामादि निक्षेपों का कथन करना चाहिये।

अध्याय-6

मूल में भूल

प्रत्येक धार्मिक कार्य का अन्तिम लक्ष्य/उद्देश्य/साध्य/फल आत्मा को पवित्र करना है/मोक्ष प्राप्त करना है/धर्ममय करना है। इसके बिना न जीव का कोई धर्म हो सकता है न धार्मिक कार्य हो सकता है। इसके बिना यदि कोई धर्म माने तो वह मिथ्या है/आडम्बर है/रुढ़ी है/दिखावा है/ढोंग है/दम्भ है। इसलिये पूजा का भी लक्ष्य आत्मा को पवित्र करना है अतएव पूजा में भी कामना, मिथ्याभिप्राय, मायाचारी, अहंकार, लोभ प्रवृत्ति, आलस्य, (प्रमाद) ईर्ष्या, धन-वैभव आदि का प्रदर्शन, क्रोध, कलह आदि नहीं होना चाहिये परन्तु इन सभी का दमन, निर्मूलन, उदात्तीकरण, परिमार्जन होना चाहिये।

पूजा का मुख्य उद्देश्य **''वन्दे तद्गुण लब्धये''** अर्थात् पंच परमेष्ठी के आध्यात्मिक गुण को प्राप्त करने के लिये मैं वंदना करता हूँ इसके अतिरिक्त प्रमुख उद्देश्य और कुछ तो होना ही नहीं चाहिये अर्थात् भक्त भक्ति से भगवान् बनना चाहता है न कि भिखारी। इसलिये जो पूजा करते हुए धन, सम्पत्ति, पुत्र आदि की कामना करते हैं वे तो भक्त से भिखारी बनना चाहते हैं।

कुछ लोग विघ्न संतोषी होते हैं वे पूजा आदि में विघ्न डालते रहते हैं। विघ्न डालना महापाप है क्योंकि इससे अन्तराय कर्म रूपी पाप कर्म बंधता है उसके साथ-साथ सम्यग्दर्शन का घात होकर मिथ्यात्व का दोष लगता है। विघ्न से स्वपर के मन में क्षोभ उत्पन्न होता है अशांति होती है वातावरण दूषित हो जाता है। रानी कनकोदरी ने शौत की डाह (ईर्ष्या) से मूर्ति को केवल 22 घड़ी तक अलग रख दी थी जिसके कारण अंजना सुन्दरी की अवस्था में 22 वर्ष तक पतिवियोग, देश निष्कासन् पर प्रताड़न आदि अनेक यातनायें सहनी पड़ी। शास्त्र में धर्म सम्बन्धी जो विभिन्न दोष हैं उनका सविस्तृत वर्णन किया गया है उनमें से कुछ वर्णन निम्न में कर रहा हूँ।

शल्य

सम्पूर्णदृग्मूलगुणो निःशल्यः साम्यकाम्यया।
धारयन्नुत्तरगुणान क्षूणान्व्रतिको भवेत्। (1) सा. धर्मामृत

जो शरीर में प्रवेश किये हुए काँटे आदि शल्य के समान निरन्तर शरीर व मन में संताप के कारण हो उसको शल्य कहते हैं। वह शल्य माया, मिथ्या, निदान के भेद से तीन प्रकार की है।

माया - दूसरों को ठगना।

मिथ्यात्व - अत्तत्वश्रद्धान अर्थात् विपरीत अभिनिवेश।

निदान - संसार के भोगों की इच्छा। वह निदान भी प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। उक्तं च-

तपः संयमाद्यनुभावनकांक्षाविशेषो निदानम्। तद्द्वेधा
प्रशस्तेतरभेदात्। प्रशस्तं पुनर्द्विविधं विमुक्ति संसार
निमित्त भेदात् तत्र विमुक्ति निमित्तं कर्मक्षयाद्याकाङ्क्षा।

तप और संयम के प्रभाव से किसी प्रकार की भोगों की प्राप्ति की अभिलाषा करने को निदान कहते हैं। और वह निदान प्रशस्त अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें से प्रशस्त निदान भी दो प्रकार के हैं। पहला विमुक्ति के लिये, दूसरा संसार के लिये। उनमें से कर्म के क्षय की इच्छा रखना विमुक्ति विषयक निदान है। उक्तं च-

कर्म व्यापायं भवदुखहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधिसिद्धम्।
आकाक्षितं क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्ति हेतुः कथितं निदानम्।।
जातिं कुलं बन्धविवर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्धये।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसार हेतुर्गदितं निदानम्।।
मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेध कारी।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमन्यत्र कृताभिलाषः।।

अपनी कषायों के क्षीणता के बदले कर्मों का नाश संसार दुःखों के उच्छेद, बोधि की प्राप्ति, समाधि की प्राप्ति, और जिन भगवान् के स्वरूप के सिद्धि की वांछा करना विमुक्ति निमित्तक निदान है। जिनधर्म की सिद्धि के लिये जाति, कुल बंध का अभाव और निर्ग्रन्थता आदि को चाहना है वह संसार निमित्त निदान है। वास्तव में देखा जाये तो मोक्ष की इच्छा करना भी अभिलाषा दोष होने से, मोक्ष का प्रतिबंधक है अर्थात् जब तक मोक्ष की वांछा करते रहोगे मोक्ष नहीं मिलेगा, इसीलिये मुमुक्षु को अपनी

आत्मा में लीन होना चाहिये। किसी विषय की वांछा करने की उसे क्या जरूरत है।

इस प्रकार तीन प्रकार की शल्यों का त्याग करने वाला निःशल्य होता है। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग में राग द्वेष के विनाश की भावना से आगे कहे जाने वाले पंचाणुव्रत तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इन श्रावक के बारह व्रतों को परमप्रीति से धारण करने वाला, पहिला प्रतिमा सम्बन्ध रखने वाले सम्यग्दर्शन और अष्टमूलगुणों को उपयोगमात्र के अवलम्बनरूप अंतरंग रीति से और चेष्टामात्र में अवलम्बनरूप बहिरंग रीति से अतिचार रहित पालने वाला, और तीन प्रकार के शल्यों से दूर रहने वाला श्रावक व्रतिक होता है। यहाँ शरीर तथा मन के संताप के कारण होने से शल्य को काँटे की उपमा दी गई है। इसीलिये काँटे के समान चुभने वाला कर्मोदय को शल्य कहते हैं। वह शल्य माया, मिथ्या और निदान के भेद से तीन प्रकार की है। तीनों से रहित निःशल्य होता है और निःशल्य ही व्रती होता है।

शंका-व्रतिक के लक्षण में 'सम्पूर्णदृग्मूलगुणः' इस पद के ग्रहण करने से ही कार्य चल सकता है फिर निःशल्य यह पद ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है?

उत्तर-यद्यपि निरतिचार, सम्यग्दर्शन और अष्टमूलगुण पालने वाला व्रतिक होता है, इसीलिये इस कथन से भी निःशल्यता का बोध हो सकता है, परन्तु शुरू में व्रत ग्रहण करने वाला व्रतिक के पूर्व संस्कारवश शल्यों के किंचित् अनुसरण की आशंका रहती है। उसको निवारण करने के लिये 'निःशल्य' यह विशेषण दिया गया है। अथवा स्पष्ट करने के लिये निःशल्य विशेषण दिया गया है और स्पष्ट करने में पुनः दोष नहीं होता है।

तीनों शल्यों को दूर करने का कारण बताते हैं-

सागारोवाऽनगारो वा यत्रिः शल्यो व्रतीष्यते।
तच्छल्यवत्कृदृङमाया निदानान्युद्धरेद्हृदः।(2)

जिस प्रकार शल्य (कांटा) निरन्तर चुभता रहता है उसकी निकाले बिनाशांति प्राप्त नहीं होती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, माया और निदान यह तीनों भी हमेशा मन को अशान्त करते रहते हैं। इनको निकाले बिना भी परिणाम निर्मल नहीं हो सकते हैं। इसीलिये व्रती होने की इच्छा करने वाले मानव को अपने हृदय से माया, मिथ्यात्व और निदान रूपी तीनों शल्यों को निकाल देना चाहिये, क्योंकि निःशल्य हुये बिना

महाव्रती या अणुव्रत नहीं बन सकते हैं।

जैसे केवल गाय-भैंस के पालने से 'गोमान्' नहीं हो सकता परन्तु दूध देने वाली गायों आदि के पालने से गोमान् कहलाता है उसी प्रकार केवल हिंसादि पापों का त्याग स्वरूप व्रतों के सम्बन्ध से व्रती नहीं हो सकता है। किन्तु शल्य के त्याग करने से ही 'सच्चे' व्रती इस पद के अधिकारी हो सकते हैं। इसलिये निःशल्य होकर व्रतों का पालन करना चाहिये।

शल्य सहचारी व्रतों को धिक्कार देते हैं -

आभान्त्यसत्यदृङ मायानिदानैः साहचर्यतः।
यान्यव्रतानि व्रतवददुः खोदर्काणि तानि धिक्।। (3)

माया, मिथ्यात्व और निदान सहित धारण किये गये अणुव्रत तथा महाव्रत व्रताभास अथवा अव्रत कहलाते हैं। उन व्रतों से कभी संवर और निर्जरा नहीं हो सकती है। उन व्रतों का आगे फल दुःखरूप ही है। इसलिये शल्यवान व्रती को धिक्कार हो। चाह से परलोक बिगड़ता है -

खाई-पूया-लाहं, सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छसि जदि परलोयं, तेहि किं तुज्झ परलोयं।।14 रयणसार

हे योगी! यदि तू परलोक चाहता है तो ख्याति, पूजा, लाभ, सत्कार आदि क्यों चाहता है, इनसे तुझे क्या परलोक (अच्छा लोक) मिलेगा? इन्द्रिय-विषय दुःख-परिणामी हैं:-

किंपाय फलं पक्कं, विसमिस्सिद मोदगिंदवारुणसोहं।
जिव्हसुहं दिट्ठिपियं, जह तह जाणक्खसोक्खं पि.।(127)

जैसे पका हुआ किंपाक फल, विषमिश्रित मोदक और इन्द्रायण फल देखने में सुन्दर होते हैं, जीभ को भी सुख देते हैं, दृष्टि को भी प्रिय लगते हैं (किन्तु परिणाम में दुःखदायी होते हैं), उसी प्रकार इन्द्रिय-सुखों को भी जानो। पर को निज मानने वाला बहिरात्मा है-

देहकलत्तं पुत्तं, मित्तादि विहावचेदणारुवं।
अप्पसरूवं भावदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा। (128)

(जो मनुष्य) शरीर, स्त्री, पुत्र आदि और विभाव चेतना (राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणामों) को आत्मस्वरूप भाता है/मानता है, वही बहिरात्मा है।

विषयों में सुख मानने वाला बहिरात्मा है-

इंदियविसयसुहादिसु मूढमदी रमदि ण लहदि तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।(129)

जो अज्ञानी जीव इन्द्रिय-विषयों के सुख में रम जाता है। ये इन्द्रिय-विषय बहुत दुःखदायी हैं, इस बात का विचार नहीं वह आत्म-तत्त्व को नहीं पाता। वही जीव बहिरात्मा होता है।

इन्द्रिय विषयों को दुखदायी न मानने वाला बहिरात्मा है।

जं जं अक्खाणसुहं, तं तं तिव्वं करेदि बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।

इन्द्रियों के जितने सुख हैं, वे सब आत्मा को अनेक प्रकार के तीव्र दुःख देते हैं। इस बात का जो विचार नहीं करता, वही बहिरात्मा होता है।

बहिरात्मा की रूचि इन्द्रिय-विषयों में रहती है -

जेसिं अमेज्झमज्झे, उप्पण्णाणं हवेदि तत्थ रूई।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय-विसएसु होदी मदी।।(131)

जैसे विष्टा में उत्पन्न हुये कीड़े की रूचि उसी विष्टा में होती है, उसी प्रकार बहिरात्मा की बुद्धि बाह्य इन्द्रिय विषयों में होती है।

बहिरात्मा को विवेक नहीं होता -

पूयसूयरसाणाण, खारामियभक्खभक्खणाणं पि।
मणु जाइ जहा मज्झे, बहिरप्पाणं तहा णेयं।।(132)

जैसे मनुष्य -जाति अपवित्र (अखाद्य) और खाद्य रसों, क्षार और अमृत, भक्ष्य और अभक्ष्य के मध्य (विवेक) नहीं करती। अनात्मा के मध्य विवेक नहीं करता।

बहिरात्म-भाव दुःख के कारण हैं -

चउगदि-संसारगमजकारण भूदाणि दुक्खहेदूणि।
ताणि हवे बहिरप्पा वत्थु सरुवाणि भावाणि।।(137)

बहिरात्मा के वस्तु स्वरूप सम्बन्धी जो भाव हैं, वे सब चतुर्गति रूप संसार परिभ्रमण और दुःख के कारण हैं।

दोषों के त्याग से मुक्ति होती है-

मूढन्तय सल्लन्तय, दोसन्तयदंड गारवत्तयेही।
परिमुक्को जोई सो, सिवगदि पहणायगो होदि।।(142)

जो योगी तीन मूढ़ताओं, तीन शल्यों, तीन दोषों, तीन दण्डों और तीन गारवों से रहित होता है, वह मोक्ष-मार्ग का नेता होता है।

शुद्धोपयोगी को मुक्ति मिलती है-

बहिरब्भंतरंगगंथविमुक्को सुद्धोपजोयसंजुत्तो।
मूलुत्तरगुणपुण्णो, सिवगदिपहणायगो होदि।। (145)

बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से रहित, शुद्धोपयोग से संयुक्त और मूल एवं उत्तर गुणों से युक्त (योगी) मोक्ष मार्ग का नेता होता है।

परमात्मा सम्यक्त्व के कारण पूज्य हैं -

किं बहुणां हो देविंदाहिंद-णरिंद-गणहरिदेंही।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाण सम्मगुणं।।(147)

अहो (भव्य)! बहुत कहने से क्या लाभ है। जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूजित हैं, उनमें सम्यक्त्व गुण की प्रधानता जानो।

धर्म में विघ्न

विघ्नो हंत्यभवच्च रावणमृतिश्चेल्लक्ष्मणेनेव तं।
स्मृत्वा चेतसि संविचार्य विलयो येनास्य संप्रेरितः।
विघ्नज्ञः स्वरिपौ रिपुः सुकृतिनो चोरो यथार्थ हरे-।
द्विघ्नो यत्र भवेदविघ्नसुजनस्तेनैव नश्येत्स च। (247) दा.शा.

दूसरों के पुण्य कार्य में विघ्न उपस्थित करना व परन्दि करना यह पाप बंध के लिये कारण हुआ करना है। इसी विघ्न के कारण से लक्ष्मण के द्वारा रावण का मरण हुआ। भवितव्य टल नहीं सकता है। कहाँ रामचन्द्र? कहाँ रावण? कहाँ अयोध्या और कहाँ लंका? दशरथ को कैकयी के साथ वचनबद्ध होना, रामचन्द्र और सीता

को वनवास के लिये भेजना, शंभुकुमार की तपश्चर्या, लक्ष्मण को चन्द्रहास खड्ग की प्राप्ति, सूर्पनखा के द्वारा रावण का बहकना, सीता हरण, आंजनेय के द्वारा सीता संदेश, लंकाप्रयाण व लक्ष्मण द्वारा रावणमरण यह सब बातें विधि के वैचित्र्य को सूचित करता है। रावण को विघ्न का फल भोगना ही पड़ा। इन बातों को विचार कर अपने शत्रुओं के प्रति भी कोई विघ्न व अंतराय करने के लिये प्रयत्न न करें। पुण्यात्माओं के प्रति दुष्ट जन विघ्न उपस्थित करता है, जिस प्रकार कि चोर दूसरों के द्रव्य को अपहरण करता है, परन्तु वह दुष्ट जन दूसरों को विघ्न करने में स्वयं नष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि अपनी भलाई चाहने वाले देव, गुरु, धर्म के प्रति कोई विघ्न उपस्थित न करें।

कोऽयं किं बलमस्य केऽत्र सुहृदोऽमित्राः कियंतस्सुता।
दक्षाः किं क इनः स्वबांधवजनाः के तेऽर्थिनः पेशलाः।
स्मृत्वांतक्षतिरेव केरिति तदा तत्रैव तैः कारयेत्।
साचेत्कैरपि नास्तिवैरमखिलेष्वेवं विधिस्तामयान्।। (248)

विधि बहुत विचित्र है, वह मनुष्य को किस समय क्या दुःख देना है इसकी व्यवस्था पहले से कर लेता है, वह पहले से विचार करता है यह कौन है? इसकी शक्ति क्या है? इसके मित्र कौनसें हैं? वे कितने हैं, इसके शत्रु कौन हैं? और वे कितने हैं, पुत्र कितने हैं? और वे स्वधर्म व्यवहार कार्य में कुशल है या नहीं? इसके स्वामी कौन हैं? कौन इसके बांधव हैं? याचक कौन हैं? इत्यादि बातों को विचार कर यह भी विचार करता है कि इस समय किनसे इसका अहित हो सकता है, उससे अहित कराता है। यदि उस समय कोई अहित करने वाले नजर न आवें दुष्ट रोगादिक बांधवों को लाकर पटक देता है।

स्वस्वार्थ स्वसुतं स्वदं स्व पितरं स्वां मातरं स्वानुजं।
स्वां दासीं स्वपशुं च हंति दहति स्वावासभेषां गदान्।
आदत्तेऽर्थहरान्नृपादिभिरलान्यक्कारयत्यन्वहम्।
स्वं गेहं स्वपुरं स्वदेशमखिलं विघ्नो वृषागोर्जितः।।(249)

धर्मकार्य के लिये उपस्थित किया हुआ विघ्न बहुत बुरे फल को अनुभव कराता है। अपने अपने पुत्र अपनी भार्या, अपने पिता अपनी माता, अपने भाई, अपनी दासी,

द्विपद चतुष्पादादि पशु आदि को वह मार डालता है, अपने आवास स्थान को जला डालता है। उसके घर पर अनेक भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है। चोरों को प्रवेश कराता है, राजा के द्वारा अपमान कराता है, अपने घर पर, नगर में, देश में सर्वत्र उसे कष्ट उठाना पड़ता है। इसीलिये देव, ऋषि, धर्मकार्य में विघ्न उपस्थित नहीं करना चाहिये।

मृत्युः सर्वबलस्य नास्ति समरे केषांचिदस्त्यंगिनां।
भुक्तानां न गदोस्ति नामयवतामंतोऽखिलास्सूनवः।
किं जीवंति वसंति किं युवतयो भोगोचिताः किं जनाः।
श्रीमंतः किमिमे भवंति महता विघ्नेन नानाविधाः।।(250)

युद्ध में जितने जाते हैं उन सबका मरण नहीं हुआ करता है, उनमें से किसी का मरण होता है। भोजन करने वाले सबको रोग नहीं हुआ करता है किसी को होता है। उत्पन्न हुये पुत्र सबके सब जीते नहीं कोई कोई जीते हैं। स्त्रियाँ सबके सब भोगोचित्त नहीं हुआ करती हैं। उनमें से कोई ही हुआ करती हैं। मनुष्य सबके सब श्रीमंत नहीं हुआ करते हैं। कोई कोई ही हुआ करते हैं। धर्म के प्रति किये हुए विघ्न अपराध के फल से अनेक प्रकार की विचित्रता लोक में देखी जाती है। तदनुसार फल इस जीव को अनुभव करना पड़ता है।

चोरस्त्वात्मकरागतं धनमरिर्हस्तागतं हंति वा।
व्याघ्रो गोनिवहैकमेव कणयः सेनाजनैकं यथा।
दोषोंऽत्रात्म मनोरथा गतमिदं द्रव्यं सजीवादिकं।
गेहं वा पुरमेव वा स्वविषयं संदापयेच्छत्रवे।।(251)

जिस प्रकार चोर अपने हाथ में आये हुए द्रव्य को अपहरण कर ले जाता है, शत्रु हाथ में आये हुए को मार डालता है, व्याघ्र पशुओं के समूह को मारता है, बाण सेनाजन को मारता है, उसी प्रकार पुण्यकार्य में किये हुए अंतराय का दोष मनुष्य के मनोरथ को मारता है अर्थात् उसकी इष्टसिद्धि नहीं होने देता, धन अपहरण करता है। सजीव द्विपद, चतुष्पदादि जीवों को मारता है, अपने घर, नगर व देश को शत्रुओं के हाथ में दिलाता है, इस प्रकार अंतराय का बहुत बुरा फल होता है।

स्वामिन्नोऽस्ति पुरः किमस्ति विलयः केनापि द्वीपायना।
त्मृत्युस्ते जलविष्णुना वददिमां श्रुत्वा तदुक्तिं तदा।
द्वेषः स्वामिनि चोदपादि वदतो विष्णोर्वचस्तौ श्रुते।
भूर्त्वेकः शबरो मुनिः खलु तयोर्निर्जग्मतुस्तत्पुरात्।।(252)
द्वारावति सा मुनिनैव दग्धा कृष्णस्य मृर्त्युजल विष्णुनैव।
विघ्नस्य वेंचित्र्यमिदं प्रसिद्धं विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।।(253)

कृष्ण ने आकर मुनिनाथ से पूछा कि स्वामिन्! क्या हमारी द्वारावती का नाश किसी के द्वारा होगा? मुनिराज ने उत्तर दिया कि द्वीपायन के द्वारा द्वारावती का नाश होगा। मेरा मरण किससे होगा, यह पुनः कृष्ण ने पूछा। मुनिराज ने उत्तर दिया जलविष्णु के द्वारा होगा। इस प्रकार मुनिराज के वचनों को सुनकर उन मुनिराजों के प्रति ही कुद्ध होते हुए जो वचन को कृष्ण बोल रहा था उससे द्वीपायन व जलविष्णु उस नगर से बाहर निकल गये। उनमें से एक तो भील बनकर चला गया और एक मुनि दीक्षा लेकर चला गया। प्रकृति के वैचित्र्य को देखिये। द्वारावती तो अशुभ तैजसऋद्धि प्राप्त उन मुनि के द्वारा जल गई और कृष्ण का मरण भी उस जलविष्णु के द्वारा ही हुआ अंतराय का वैचित्र्य, लोक में प्रसिद्ध है, वह फल दिये बिना नहीं छोड़ सकता। लोक में यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि विनाश काल में मनुष्य को विपरीत बुद्धि सूझा करती है। मनुष्य चाहता कुछ होता है और कुछ सब कुछ विधि विलसित हुआ करते हैं। उससे अघटित घटना विघटित होती है। इस प्रकार विचार कर मनुष्य को सदा शुभ आचरण में प्रवृत्ति करना चाहिये।

गर्वं संत्यज संभजस्व नृपवद्देवं मंत्रिव-
त्संघं तव्दलवद्विरुद्ध चरितं त्वं जीव भो मा कुरु।
वैरं वंचनदुर्विवाद मनघं त्यक्त्वैव वाक्यं वद विलसद्धर्मेच्छये वान्वहं
कारुण्यं कुरु भक्तिमेव विलसद्धर्मेच्छयैवान्वह।।(64)

हे जीव! धर्म प्रभावना की इच्छा से सदाकाल तू गर्व छोड़, राजा के समान देश की सेवा कर, मंत्री के समान गुरु की सेवा करो, सेना के समान संघ की रक्षा कर, इसके विरुद्ध व्यवहार मत कर, बैर, माया, वितण्डावाद मत कर, जिससे पाप न हो

ऐसे वचन उच्चारण कर, सब प्राणियों पर दया और सज्जनों पर भक्ति रखो।।(64)

कश्चिद्धर्मप्रभावं रचयति कतिचित्तं निरीक्ष्येर्षयाधं।
के चित्संशुद्धभावेन च सुकृतचयं प्राप्नुवंत्युद्ध दृष्टया।
पूर्णं पदमाकरं तं बहुसतृषजनो वीक्ष्य श्रांतश्रमः को
मीनासक्ताशयः स्याद्विगत घनरसं वांछतिवांहस कः।।(65)

कोई धर्म प्रभावना करता है। कोई उसे ईर्ष्या भाव से देखकर पाप को प्राप्त करता है, कोई शुद्ध भाव से देखकर पुण्य संचय करते हैं एवं स्वर्गादि संपत्ति को प्राप्त करते हैं। संसार में देखा जाता है कि कोई बहुत प्यासा व्यक्ति तालाब में पानी भरा हुआ देखकर प्रसन्न होता है। मछली पकड़ने वाला धीवर तालाब का पानी सूखने पर आनन्द मनाता है। इसलिये भिन्न-भिन्न भावों से भिन्न-भिन्न प्रकार के पाप पुण्यों को यह मनुष्य अर्जन करता है।

स्थित्वा गत्वागत्य ये चैत्यगेहे, वर्तंते ते स्वल्पलाभेच्छयैंव।
संस्थायास्थित्यैव मुक्त्वा गती द्वे, मूढ़ाःपुण्यं नैव किंचिल्लभंते,।।(66)

जो जिनालय में जाकर कभी बैठते हैं। कभी इधर-उधर उठकर जाते हैं। फिर आकर बैठते हैं वे लोग जिनालय में जाकर भी विशेष लाभ नहीं लेना चाहते हैं। स्थिर चित्त से एक जगह बैठकर जिन पूजा विधि को देखने वाले बहुत कम लोग है, इस प्रकार अज्ञानी जन पुण्य संचय नहीं करते हैं।

के चिद्नंति जिनोत्सवं कुमतयोऽप्यस्मात्र श्रुण्वन्नयं
तिष्ठंतोऽत्र स तत्समयेन किल भो कुर्वन्महांतो वयम्।
स्थानीये भवते वृषे वपुषि यो वैषम्यवृत्ति र्भवेत्
तत्कालदुपरि प्रणश्यति कृतं दानं च तत्तत्सतत्।(67)

कोई कोई दुर्बुद्धि मनुष्य अहंकार के वश ऐसा समझने लगते हैं कि हम इतने बड़े आदमी होते हुए भी इस जिन पूजोत्सव को कराने वाले व्यक्ति हम इसके कार्य में विघ्न डालेंगे ऐसे दुराशय से नगर में, घर में धर्मकार्य में, उसके शरीर में इत्यादि अनेक स्थानों में उस श्रावक से वैर कर उसके उत्सव में विघ्न डालने का प्रयत्न करते हैं वे पापी हैं। उसके सर्व पुण्य नष्ट होते हैं।

एके वित्तपतीन वेक्ष्य दुरिते पुष्टिं वहुंत्यन्वहं।
त्वेके दीनतयाशनं च वसनं वित्तं सदा याचितुं।
एके श्रावकमानसं कलुषयत्ये के शयानाः परं
चैके श्रीजिनबिंबदत्त मनसः पुण्यं लभंते ध्रुव।।(68)

जिनालय में पूजोत्सव के निमित्त गए हुए मनुष्यों में कितने ही श्रीमंतों को प्रसन्न करने के लिए पाप को कमाने में संतुष्ट होते हैं और कोई दीनता से भोजन, वस्त्र, धन इत्यादि को माँगने के लिये तत्पर रहते हैं, और कोई श्रावकों के चित्त को कलुषित करने में तत्पर रहते हैं, एवं कोई प्रमाद से सोते रहते हैं। परन्तु ऐसे भी कुछ लोग कहते हैं जो जिन-बिम्ब की ओर ही अपना मन लगाकर बैठते हैं वे नियम से पुण्य संपादन करते हैं।

एकाः स्वं च पराक्रमं व्यवहंति दुखं सुखं स्वीयजं,
चाख्यांत्यामय पाप भोजन विधिं दृष्टवा स्वयोषिजनं।
पूजामीक्षितुमंतरेण समयं प्रातः पुरं स्वं ययुः
पातास्युर्वनिताश्च विघ्नदुरितं दत्ते न कि किं फलं।।(69)

कोई कोई स्त्रियाँ जो महोत्सव देखने के लिये आती हैं अपने-अपने पक्ष के स्त्रियों को देखकर उनसे अपने पति के पराक्रम का वर्णन करने लगती हैं। उस के व्यवहार को कहती हैं। अपने सुख-दुःख को कहती हैं। अपने को कोई रोग हुआ हो या कष्ट हुआ हो, उसे कहती है। या भोजन का समाचार कहती हैं, इस प्रकार की स्त्रियाँ पूजा महोत्सव को न देखकर प्रातःकाल होते ही अपने-अपने ग्राम को चल देती हैं। इस प्रकार पूजाकार्य में विघ्न डालने वाली स्त्रियों को पाप क्या फल नहीं देगा? अपितु अवश्य देगा।

मत्तत्वैः परिवादनोत्प्रहसनात्मोत्कर्षणैः कृतसनैः
र्दोषख्या पनभर्त्सनैः परयशोलोपात्मकीर्त्युद्भवै-
जैनावर्ण नयोगिराट्परिभवस्थानादमानैरन-
भ्युथानां जलिकाभिवादन मुखै स्सम्यग् गुणोद्भदृनैः (70)
बंभम्या खिलहीन योनिषु चिरं देवादिहा ने कधा-

प्युद्भूयोच्चकुले जिनं वृषमयं लब्ध्वा सबोधं वपुः।
कृत्वार्चा सकलं च दानममलंपश्चात्तु पूर्वा गतिं,
गंतुं वांच्छसि जीव मा भज शमं धमं दयां सर्वदा (71)

इस जीव ने पूर्व में अपने मानकषाय से, दूसरों के तिरस्कार करने से, हँसी करने से, अपने उत्कर्ष की चाह से मनवचन काय की नीच प्रवृत्ति से, दूसरों के दोष प्रकट करने से, दूसरों को भर्त्सना देने से दूसरों के कीर्ति लोप के करने से एवं अपने कीर्ति चाहने से, जैन मुनिश्वरों के आने पर उनको स्थान मान देकर एवं उठकर खड़े होना, प्रणाम करना पाद स्पर्शन करना आदि क्रियाओं से आदर न करने से, अच्छे गुणों को ढ़कने से, समस्त नीच योनि में भ्रमण करते हुए दुख उठाया है। दैव से अनेकबार उच्चकुल को प्राप्तकर भी दुराचरण से नीच कुल में फिर गया है। इसलिए हे जीव! तूने अब उच्चकुल में जन्म लिया है लोक में सबका हित करने वाले जैन धर्म को प्राप्त किया है एवं ज्ञान युक्त शरीर को भी प्राप्त किया है। पूजा दान इत्यादि सत्कार्यों को करने की पात्रता भी तुममें मौजूद है इसलिए पहले के समान नीच गतियों में जाने की इच्छा मत कर। शांति और दया की सेवा सदा काल करते हुए अपना जन्म सफल कर।

नेदं नेदमिदं न यो न कुपितः कर्ता दिद्ठक्षागते-
न्द्रादिश्रावक मानसं कलुषयन् संक्षोभयत् जायते
स्वास्यात्तोज्जवल दीप वर्तिशिखया स्नेहेच्छुराखुः स्वयं
स्वीयान्वाखिलदे हिनोऽपि दहतीत्यात्मीय गेहादिकं।।(72)

जो कोई भी श्रावक जिनपूजोत्सव को जाकर वहाँ पर कषायोद्रेकसे ''यह वह नहीं, वह नहीं'' इत्यादि कषाय पूर्ण वचन कहकर इंद्र, गुरु, श्रावक सबके चित्त को क्षुभित करता है। जिस प्रकार दीपक का तेल पीने की इच्छा रखने वाला चूहा जलती हुई बत्ती को मुख में लेकर जाते हुए अपने शरीर को एवं दूसरों को जला देता है उसी प्रकार जिनपूजोत्सव के समय में कषाय के उद्रेक से क्रोधित होने वाला मनुष्य अपने तथा दूसरों के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करते हुए अहित कर लेता है।''

करुणात्मधिया शपंति न च न क्रुध्यंति निंदंति न
स्वद्रव्यार्थिजना इवानवरतं माध्यस्थभावं गताः।

नो जल्पति न च स्मरंति सुधियो धिक्कारवाचं क्वचित्
स्व प्रत्यूहधियैव धार्मिकजना निर्विघ्नपुण्यार्थिनः।।(73)

कोई-कोई सज्जन जिनालय में जाकर करुणा बुद्धि से किसी पर क्रोधित नहीं होते हैं, किसी की निन्दा नहीं करते हैं, किसी को शाप नहीं देते हैं। अपने आत्मद्रव्य को चाहने वाले मुनियों के समान शत्रु मित्रों में मध्यस्थभाव रखते हैं कोई बड़बड़ नहीं करते। बाह्य विचारों की चिंता नहीं करते। कभी किसी को धिक्कार नहीं देते हैं। ऐसे सज्जन धार्मिक हैं। पुण्योपार्जन करने वाले हैं।

यो व्ययत्यनिशं तस्य धर्मार्थ धर्मजश्रियम्।
श्रीलता त्रिजगद् वृक्षमारोहति विवर्द्धना।। (74)

जो अपने धर्म से उत्पन्न धन को धर्म के लिये व्यय करता है वह अपनी संपत्तिरूपी लता को तीन लोक रूपी सबसे बड़े वृक्ष पर चढ़ाता है अर्थात् मोक्षसंपत्ति को प्राप्त करता है।

वन्दना के 32 दोष

कति दोषविप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति यत्पृष्टं तदर्थमाह-

अणाठिदं च थट्ठं वच पविट्ठं परिपीडिदं।
दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छभरिंगियं।(605) मूलाचार
मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआवद्धमेव य।
भयासा चेव भयत्तं इड्ढिगारब गारवं।।(606)
तेणिदं पडिणिदं चावि पुट्ठं तज्जिदं तधा।
सद्दं च हीलिदं चावि तह तिवलिद कुंचिदं।(607)
दिट्ठमदिट्ठं चावि य संघस्स करमोयणं।
आलब्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं।(608)
मूगं च ढदुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं।
बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउंजदे।(609)

कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा जो प्रश्न हुआ था। अब

उसका समाधान करते हैं -

गाथार्थ - अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीड़ित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय विभ्यत्व, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट तर्जित शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दुष्ट अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध अनालब्ध, हीन, उत्तर चूलिका, मूक, दर्दुर और चुलुलित इस प्रकार साधु इन बत्तीस दोषों से विशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करते हैं।

आचारवृत्ति-वन्दना के समय जो कृतिकार्म प्रयोग होता है उसके अर्थात् वन्दना के बत्तीस दोष होते हैं, उन्हीं का क्रम से स्पष्टीकरण करते हैं -

1. अनाहत : बिना आदर के या बिना उत्साह के जो क्रियाकर्म किया जाता है वह अनादृत कहलाता है। यह अनादृत नाम का पहला दोष है।

2. स्तब्ध : विद्या आदि के गर्व से उद्धत-उद्दंड होकर जो क्रियाकर्म किया जाता है वह स्तब्ध दोष हैं।

3. प्रविष्ट : पंचपरमेष्ठी के अति निकट होकर जो कृतिकर्म किया जाता है वह प्रविष्ट दोष है।

4. परिपीडित : हाथ से घुटनों से पीड़ित - स्पर्श करके जो वन्दना करता है उसके परिपीड़ित दोष होता है।

5. दोलायित : झूला के समान अपने को चलाचल करके अथवा सोकर (या नींद से झुमते हुए) जो वन्दना करता है उसके दोलायित दोष होता हैं।

6. अंकुषित : अंकुश के समान हाथ के अँगूठे का ललाट पर रखकर जो वन्दना करता है, उसके अंकुषित दोष होता है।

7. कच्छपरिंगित : कछुए के समान चेष्टा करके कटिभाग से सरककर जो वन्दना करता है उसके कच्छपरिंगित दोष होता है।

8. मत्स्योर्द्वर्त : दो पसवाड़ों से वन्दना करना अथवा मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर (या पलटकर) जो वन्दना करता है उसके मत्स्योर्द्वर्त दोष होता है।

9. मनोदुष्ट : मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष धारण करके जो वन्दना करता है, अथवा संक्लेश युक्त मन से जो वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नाम का दोष होता है।

10. वेदिकाबद्ध : वेदिका के आकार रूप से दोनों हाथों को बाँधकर हाथ पंजर

से वाम-दक्षिण स्तन प्रदेश को पीड़ित करके या दोनों घुटनों को बाँध करके वन्दना करना वेदिका बद्ध दोष हैं।

11. भय : भय से अर्थात् मरण आदि से भयभीत होकर या भय से घबड़ाकर वन्दना करना, भय दोष है।

12. विभ्यत्त्व : गुरु आदि से डरते हुए या परमार्थ से परे बालक-स्वरूप परमार्थ के ज्ञान से शून्य अज्ञानी हुए वन्दना करना विभ्यत् दोष है।

13. ऋद्धिगौरव : वन्दना को करने से महापरिकर वाला चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ मेरा भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से जो वन्दना करता है, उसके त्रद्धिगौरव दोष होता है।

14. गौरव : अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रकट करके या रस के सुख के लिए जो वन्दना करता है, उसके गौरव नाम का दोष होता है।

15. स्तेनित : जिस प्रकार से गुरु आदि न जान सकें ऐसी चोर बुद्धि से या कोठरी में प्रवेश करके वन्दना करना या अन्य जनों से आँखें चुराकर अर्थात् नहीं देख सकें ऐसे स्थान में वन्दना करना सो स्तेनित दोष है।

16. प्रतिनीत : गुरु आदि के प्रतिकूल होकर जो वन्दना करता है उसके प्रतिनीत दोष होता है।

17. प्रदुष्ट : अन्य के साथ प्रदेष-बैर कलह आदि करके पुनः उनसे क्षमाभाव न कराकर जो क्रियाकलाप करता है उसके प्रदुष्ट होता है।

18. तर्जित्त : अन्यों की तर्जना करते हुए अर्थात् अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करते हुए यदि वन्दना करता है, अथवा आचार्य आदि के द्वारा अंगुली आदि से तर्जित-शासित दंडित होता हुआ ''यदि तुम नियम आदि क्रियाएँ नहीं करोगे तो हम तुम्हें संघ से निकाल देंगे।'' ऐसी आचार्यों की फटकार सुनकर जो वन्दना करता है उसके तर्जित्त दोष होता है।

19. शब्द : मौन को छोड़कर बोलते हुए जो वन्दना आदि करता है उसके शब्द दोष होता है। अथवा ''संद्व च'' ऐसा पाठ भेद होने से उसका ऐसा अर्थ करना कि शठता से, माया प्रपंच से जो वन्दना करता है, उसके शाठ्य दोष होता है।

20. हीलित : वचन से आचार्य आदिकों का तिरस्कार करके जो वन्दना करता

है उसके हीलित दोष होता है।

21. त्रिवलित : शरीर के काँटे, हृदय और ग्रीवा इन तीन स्थानों में भंग डालकर अर्थात् कमर, हृदय और गरदन को मोड़कर वन्दना करना त्रिवलित दोष है।

22. कुंचित : संकुचित किये हाथों से शिर का स्पर्श करते हुए जो वन्दना करता है, या घुटनों के मध्य शिर को रखकर वन्दना करता है उसके संकुचित दोष होता है।

23. दृष्ट : आचार्यादि देख रहे हैं तो सम्यक् विधान से वन्दना आदि करता है अन्यथा स्वेच्छानुसार करता है अथवा दिशाओं का अवलोकन करते हुए यदि वन्दना करता है तो उसके दृष्ट दोष होता है।

24. अदृष्ट : आचार्य आदिकों पृथक्-पृथक न देखकर भूमिप्रदेश और शरीर का पिच्छी से परिमार्जन न करके वन्दना की क्रिया और पाठ में उपयोग न लगाते हुए अथवा गुरु आदि के पृष्ठ देश में उनके पीछे होकर जो वन्दना करता है उसके अदृष्ट दोष होता है।

25. संघकरमोचन : संघ को मायाकर-वृष्टि अर्थात् कर भाग देना चाहिए अन्यथा मेरे प्रति संघ शुभ नहीं रहेगा अर्थात् संघ रुष्ट हो जावेगा ऐसा समझकर जो वन्दना आदि करता है, उसके आलस्य दोष होता है।

26. आलब्ध : उपकरण आदि प्राप्त करके जो वन्दना करता है, उसके आलब्ध दोष होता है।

27. अनालब्ध : ''उपकरणादि मुझे मिले'' ऐसी बुद्धि से यदि वन्दना आदि करता है तो उसके अनालब्ध दोष होता है।

28. हीन : ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित जो वन्दना करता है, उसके हीन दोष होता है, अर्थात् वन्दना सम्बन्धी पाठ के शब्द जितने हैं उतने पढ़ना चाहिए। उनका अर्थ ठीक समझते रहना चाहिए और जितने काल में उनको पढ़ना है उतने काल में ही पढ़ना चाहिए इसके अतिरिक्त जो इन प्रमाणों को कम कर देता है, जल्दी-जल्दी पाठ पढ़ लेता है इत्यादि उसके हीन दोष होता है।

29. उत्तरचूलिका : वन्दना का पाठ थोड़े ही काल के पढ़कर वन्दना की चूलिका भूत आलोचना आदि को बहुत काल तक पढ़ते हुए जो वन्दना करता है उसके उत्तरधूलिका दोष होता है। अर्थात् ''जयतु भगवान हेमाम्भोज'' इत्यादि भक्ति पाठ

जल्दी पढ़कर ''इच्छामि भंते चेइयभक्ति'' इत्यादि चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को बहुत मंद गति से पढ़ना आदि उत्तर-चूलिका दोष है।

30. मूक : गूंगे के समान मुख में ही जो वन्दना का पाठ बोलता है, अथवा वन्दना करने में ''हुंकार'' आदि शब्द करते हुए या अंगुली आदि से इशारा करते हुए जो वन्दना करता है, उसके मूक दोष होता है।

31. दर्दुर : अपने शब्दों से दूसरों के शब्दों को दबाकर महाकलकल ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से जो वन्दना करता है, उसके दर्दुर दोष होता है।

32. चुलुलित : एक प्रदेश (स्थान) में खड़े होकर मुकुलित अंगुली को घुमाकर जो सभी की वन्दना कर लेता है या जो पंचम आदि स्वर से वन्दना पाठ करता है उसके चुलुलित दोष होता है।

यदि साधु इन बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करता हैं, वन्दना करता है तो वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है ऐसा समझना।

किदियम्मंपि करतो ण होदि किदयम्मणिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदरं साहू, ठाणं विराहंतो।।610।। (मूलाचार)

इन बत्तीस स्थानों में से एक भी स्थान की विराधना करता हुआ साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृतिकर्म से होने वाली निर्जरा को प्राप्त नहीं होता है।

इन बत्तीस दोषों में से किसी एक भी दोष को करते हुए यदि साधु क्रियाकर्म-वन्दना करता है तो कृति कर्म को करते हुए भी उस कृति कर्म के द्वारा होने वाली निर्जरा का स्वामी नहीं हो सकता है। अथवा इन बत्तीस दोषों में से किसी एक दोष के द्वारा स्थान अर्थात् कायोत्सर्ग आदि क्रियारूप वन्दना की विराधना कर देता है।

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जतो।
जाचेतो वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू।।(मूलाचार)

बाधा रहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि का स्पर्श व प्रमार्जन करता हुआ मुनि वन्दना की याचना करके वन्दना को करता है।

जिसकी वन्दना की है और जो वन्दना करता है उन दोनों में एक हाथ का अन्तर होना चाहिए अर्थात् गुरु या देव आदि की वन्दना के समय उनसे एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर, उनसे बाधा न करते हुए वन्दना करे। अपने शरीर स्पर्श और प्रमार्जन

अर्थात् कटि, गुह्य और प्रदेशों का पिच्छिका से स्पर्श व प्रमार्जन करके शरीर की शुद्धि को करता हुआ प्रकर्ष रीति वन्दना की याचना करे। अर्थात् हे भगवान्! आपकी वन्दना करूँगा इस प्रकार याचना-प्रार्थना करके साधु इच्छाकार-वन्दना और प्रणाम को करता है।

तथा बत्तीस दोषों के परिहार से बत्तीस गुण ही होते हैं। तथा उन गुणों सहित, यत्न में तत्पर मुनि वन्दना करे। हास्य, भय, अवसादना, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्य भाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध-दूसरों को रोकना, हीना या अधिक पाठ, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी चढ़ाना सत्कार-खाँसना, खखारना-इत्यादि दोषों को छोड़ वन्दना करें। जिनकी वन्दना कर रहे है ऐसे देव गुरु आदि में अपने मन को लगाकर अर्थात् उनसे गुणों में अपने उपयोग को लगाते हुए, अन्य काम को छोड़कर वन्दना करने वाले को विशुद्ध मन वचन कार्य के द्वारा मौनपूर्वक वन्दना करना चाहिए।

अध्याय - 7

दान तथा उसके विकार

समस्त धन - सम्पत्ति के साथ-साथ शरीर तथा राग द्वेषादि रूप को त्यागकर शाश्वतिक मोक्ष सुख मिलता है। परन्तु जो सम्पूर्ण रूप से समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहों को त्याग करने के लिये समर्थ नहीं है ऐसे धार्मिक व्यक्ति जो आंशिक उत्सर्ग (त्याग) करता है उसे दान कहते हैं। यह दान भी सांसारिक कामना, निहित स्वार्थ, प्रसिद्धि, अहंकार की पुष्टि के लिये या दूसरों के ऊपर अपना अधिकार, प्रभुत्व स्थापित करने के लिये नहीं होना चाहिये। दान की परिभाषा देते हुए कहा भी है -

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' (38) (तत्वार्थवार्तिकम् द्वितीय भागः पृ. 428)स्व और परोपकार के लिये अपने धन का त्याग करना दान है। स्व और पर का उपकार अनुग्रह है। स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। साधुओं को दान से दाता के पुण्य का संचय होता है, यह स्वोपकार है और शुद्ध आहार करने से साधुओं के ज्ञानध्यान की वृद्धि होती है, वह परोपकार है।

'स्व' शब्द धन का पर्यायवाची है। 'स्व' शब्द के आत्मा, आत्मीय जाति, धन आदि अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ पर 'स्व' शब्द का अर्थ धन पर्यायवाचक ग्रहण

करना चाहिए। स्व पर का अनुग्रह करने के लिए धन का त्याग करना दान है।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः।(39)

विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्र विशेष से फलविशेष की प्राप्ति होती है।

परन्तु वर्तमान में देखने में आता है कि कुछ लोग उपर्युक्त विधि से दान नहीं देते हैं परन्तु नाम बडाई आदि के लिये बड़े-बड़े मेला आदि में बोली लेंगे। बोली को बढ़ाने के लिये अनेक व्यक्ति बोली लेने वालों की चापलूसी करेंगे। जिस मेला आदि में अधिक भीड़ होगी वहाँ अधिक धन की बोली लेंगे परन्तु वे ही व्यक्ति जब साधु अपने नगर या ग्राम में आयेंगे तब उन्हें एक चुल्लु भर भी पानी नहीं पिलायेंगे। अपने ग्राम के मन्दिर आदि की व्यवस्था या निर्माण व विकास के लिये दान नहीं देंगे। बोली को लेकर भी कुछ व्यक्ति धन नहीं देंगे। दान देकर मन्दिर में बड़ी-बड़ी पट्टियों में अपनी प्रशस्ति भी लिखेंगे। एक ट्यूब लाइट देंगे तो भी उस में इतनी प्रशस्ति लिखेंगे कि प्रकाश भी मन्द पड़ जाता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए एक कवि ने कहा भी है -

नाम बढ़ाई कारणे, जो धनखर्चे मूढ़।
मरकर हाथी होएगा, आगे लटकाए सूंड।।

दान का स्वरूप, उसका फल तथा कुदान आदि का वर्णन पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है।

सुक्षेत्रोप्तसुतुगंपरापनसब्रीह्यादिबीजानि यः।
किं गृण्हाति कृषीबलः स्मरति किं बीजं समुप्तं मम्।
सोग्रे सर्वफलानि संति मनसि स्मृत्वैव तृप्तो भवे।
दत्तीद्रव्य मुदर्कदं तु सदया जैना उदकैषिणः। (209) दानशासनम्

अच्छी भूमि में बोए हुए नारियल, सुपारी, पनस, धान आदि के बीज को क्या कोई किसान ग्रहण करता है? कभी नहीं, वह उनके उत्तर फलों को मन में स्मरण करते हुए संतुष्ट होता है। इसी प्रकार दयालु प्रशस्त दाता को भी उचित है कि वह दान के उत्तर फल को ध्यान में रखते हुए दिए हुए द्रव्य का पुनः ग्रहण न करें।

भूगोतटाकनद्यन्धि शुक्तयब्दांधुदुमा यथा।

न स्मरंति न गृह्णन्ति दत्त द्रव्याणि दानिनः।।(210)

जिस प्रकार भूमि, गाय, तालाब, नदी, समुद्र, सीप, आकाश, कुआँ और वृक्ष परोपकार करते हैं और दिये हुए पदार्थ को वापिस नहीं लेते हैं, उसी प्रकार दानी भी दिए गए द्रव्यों को न स्मरण करते हैं और न ग्रहण करते हैं।।

भूमि : यह जमीन बहुत से प्रकार के धान्यादिकों को उत्पन्न कर दूसरों के उपकार के लिये दिया करती है। परन्तु उनको कभी वापस नहीं लेती है, धान्यों की उत्पत्ति के लिए स्वयं की छाती पर हल चलाने देती है अनेक प्रकार से कष्ट सहन करती है, यह सब किसलिये? परोपकार के लिए।

गो : जिस प्रकार गाय घास और पानी को ग्रहण कर दूध देती है, उसमें उसका स्वार्थ नहीं है, उसी प्रकार दानियों की वृत्ति होनी चाहिए।

तटाक - तालाब अपने पानी के द्वारा समस्त खेत के सदस्यों की वृद्धि में सहायता करता है, उसी प्रकार दातृजन भी अपने धन के द्वारा परोपकार करते हैं।

नदी - जिस प्रकार नदी से पानी, कोई ले जाकर उसे कम करें, चाहे कोई शत्रु आकर उससे पानी ले जाय, बंध बांध देवें, तो उसके साथ या चाहे जैसी अनुचित वृत्ति को धारण करने वालों के साथ लड़ती नहीं, भिड़ती नहीं, अन्यथा विचार नहीं करती है, इसी प्रकार उदार हृदय दानियों की वृति रहती है।

समुद्र - जिस प्रकार समुद्र गम्भीर रहता है, उसके पास जो रत्न हैं, उसे कोई ले जावे तो भी उसकी महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता है, इसी प्रकार दानियों की गंभीर मनोवृत्ति रहती है।

शुक्ति - सीप के अन्दर पड़े हुए मोती के समान दाताजनों की आत्मा मुक्तिस्थित सिद्ध के समान शुद्ध रहती है।

मेघ - जिस प्रकार बादल अयाचित्त होकर ही पानी बरसाता है, एवं लोक को संतुष्ट करती है उसी प्रकार, दाताओं की वृति रहती है।

कूप - भू, शिला मिट्टी के खोदने से उत्पन्न कूप जिस प्रकार अमृत के समान मिष्ट जल को प्रदान करता है, इसी प्रकार दानियों की वृति होनी चाहिए।

द्रुम - स्वयं धूप में खड़े होकर दूसरों का छाया प्रदान करते हुए दूसरों के उपकार के लिए फल छोड़ते हैं ऐसे वृक्षों के समान दाताओं की वृत्ति होनी चाहिए।

यो देवाद्यर्पितं द्रव्यं नादत्ते न च वांछति।

सत्यंकारधनं दत्तं मुक्त्यै तेन विर्दुबुधाः।।(211)

जो मनुष्य देव व ऋषियों को दान में दिए हुए द्रव्य को ग्रहण नहीं करता है न चाहता है, उसने दान नहीं दिया, अपितु मुक्ति लक्ष्मी के साथ विवाह करने के लिए संचकार धन (साही वर दक्षिणा) दया ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

येन यस्मै धनं दात्रा दत्तं तेनाहृतं पुनः।

तत्सर्वमपि बधूनामुत्सवे दत्तवस्तुवत्।।(212)

यदि किसी को दिए हुए द्रव्य को उस दानी ने वापस लिया तो वह दान नहीं है, बंधुओं के घर में उत्सव के समय दी हुई सहायता है।।(212)

यो दत्त द्रव्य मादत्ते तस्योत्तर फलं न च।

उप्तबाल फलों दातृ मूढ़वद्धार्मि कोभवेत्।।(213)

जो मनुष्य दिये हुए द्रव्य को ग्रहण करता है, उसको उस दान का उत्तर फल बिल्कुल नहीं हो सकता है। उसकी हालत ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि एक मनुष्य बोए हुए नारियल को निकालकर खाता है उसी प्रकार वह मूढ़ धार्मिक है।

योऽशेषवस्तुप्रकरोपकर्ता तद्वस्तुलेशांशकयाचिता चेत्।

शष्यत्यलाभे यदि कुप्यति प्रियं स एव मूर्खो न कृतिर्न धर्मवान्।।(214)

जो सज्जन अपने धन से दूसरों का उपकार करता है, यदि उसने उस द्रव्य के कुछ अंश को अपने लिये याचना किया तो उसने दिया तो ठीक है, नहीं दिया तो उसके ऊपर क्रोधित होता है, गाली देता है, वही मूर्ख है, वह सज्जन नहीं धार्मिक नहीं। क्योंकि दूसरों को दिए हुए द्रव्य पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है, इस बात का वह विचार नहीं करता है।

गर्ताटोऽन्यचितं कुसूलनिहिंत धान्यं यथात्यन्वहम्।

द्वारिद्र्योभ्दव दुःख भाजन जनोऽन्यार्थं तथा सेवते।

यद्दीनारशतांशतस्करजनो दत्ते नृपायाखिलम्।

तस्मादन्यधनं च साधिपतृणं धन्यो जनो न स्पृशेत्।(215)

जिस प्रकार गर्ताट (चुहे के समान जमीन के अन्दर रहने वाला जंतु) कुसूल से

भरे हुए धान्य को सदा खाती है, उसी प्रकार दारिद्रय के दुःख से पीड़ित मनुष्य अनेक उपायों से परद्रव्य को अपहरण करते है। उसका फल बहुत बुरा भोगना पड़ता है। जिस प्रकार एक चोर ने एक शतांश द्रव्य की चोरी की तो भी राजा के द्वारा दिया हुआ दंड तो उससे शतगुणा अधिक होता है, और उसे देना ही पड़ता है। इसलिये परधन को धन्य सज्जन कभी भी स्पर्श न करें इतना ही क्यों? जिस घास का मालिक हो उस घास को भी नहीं लेवें।

देवाय गुरूवे राज्ञे दत्तं पात्राय यद्धनं।

दातृभिस्तच्च न ग्राह्यं स्वक्षेत्रेषुप्तबीजवत्।।(216)

देव, गुरु राजा व सत्पात्रों को दिये हुए धन को दाता लोग मन वचनकाय से ग्रहण न करें, जिस प्रकार अपने खेत में बोये हुए बीज को यह ग्रहण नहीं करता है।

आत्मीयमन्यदीयं स्वं दानं यः कुरुतेऽघद।

दातृत्वहानिं कुर्यात्र ग्राह्यमन्यकलत्रवत्।(217)

जो मनुष्य दूसरों के द्रव्य के रूप में संकल्प कर दान करता है वह पाप के लिये कारण है। उससे दातृत्व की हानि होती है। परस्त्री के समान परद्रव्य को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

स्वं स्वं देवाय संकल्प्य स्वयमेव व्ययत्पदः।

स्वानर्थाय भवेत्कन्यादान वत्सोऽनरिः स्मेरत्।।(219)

जो सज्जन अपने द्रव्य को देवताकार्य के लिये संकल्प करके उसे अपने लिये उपयोग करता है उससे उसका सर्वनाश होता है यदि कन्यादान करके भी उस कन्या को पतिगृह नहीं भेजें तो प्रिय दामाद भी शत्रु हो जाता है।

देवकल्पितरैहारै वैरं तेजोहतिं रुजं।

पापं पुण्यक्षयं तिर्यग्गतिं गच्छेत्स नारकीम्।(40)

जो मनुष्य देवसंकल्पित द्रव्य को अपहरण करता है उसके प्रति बंधु राजा आदि उससे वैर विरोध करते हैं। उसके तेज का क्षय होता है, रोग बाधा बढ़ती है, पाप की वृद्धि होती है, पुण्य का क्षय होता है, वह तिर्यंच या नरक गति में जाता है।

कृतात्मवर्णनं पात्रैः श्रुत्वा हृष्टाशयांचितं।

दानं सर्व प्रशंसाकृद्बंदिभ्यो दत्तदानवत्।221

पात्रों के द्वारा की गई अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होकर दिया हुआ दान बंदीजनों को दिये हुए दान के समान प्रशंसा कर दान है।

अत्युच्चाः पाटलाःस्थूला निष्फलाः कुसुमोद्भवाः।
साध्वयोग्या भवेयुस्ते दातारः कतिचिद्यथा।(24)

जिस प्रकार पुष्प से उत्पन्न पाटल वृक्ष बहुत ऊँचा, बड़ा होने पर भी निष्फल हुआ करता है, इसी प्रकार किसी सज्जन के पास बहुत धन (कनक) रहने पर भी वह साधु के लिये अयोग्य हुआ करता है, अर्थात् पात्रदान के काम में उसका धन नहीं आता है, अतएव व्यर्थ है।

देवगुर्वादिभव्यानां योऽर्थानपहरत्यपि।
स भित्रपद्माकरवत्स्यात्पुण्य रहिताशयः।(43)

जो देव, गुरु आदि भव्यों के अर्थ को अपहरण करता है उसकी हालत टूटे हुए तालाब के समान हैं। उसके हृदय में पुण्य का अभिप्राय नहीं है। अर्थात् वह पापी है।

यो ददामि धनं स्मृत्वा न दत्ते स भवांतरे।
वंध्यद्रुम इवाभाति कमाशक्त उदभरिः।(44)

जो व्यक्ति दान देता हूँ ऐसा मन में स्मरण कर पीछे उसे नहीं देता हो तो वह आगे के भव में वैध्यदुम (बेकार वृक्ष) के समान बन जाता है। और उसे अपना पेट भरना भी कठिन होता है।

ध्यातं वित्तं न दत्तं यैयैषां कालावधिमुर्दा।
ध्यातं तैर्न फलं कार्यं तेषामिष्टं न कुत्रचित्।।(45)

दूसरों को देने के लिए विचार किए हुए धन को योग्य समय में संतोष से यदि नहीं दिया तो उस शुभ विचार का कोई फल नहीं हुआ करता है, और ऐसे लोगों पर कोई विश्वास नहीं करते। अतएव उनकी इष्टसिद्धि कहीं भी नहीं होती है।

लिखितं तु न दत्तं धैर्येभ्यस्तेषां बहुव्ययः।
नष्टः स्यादुद्यमः सर्वः स्वात्मीयायबहुक्षयः।(46)

किसी को धन देने के संबंध में लिखकर देने पर भी बाद में जो व्यक्ति नहीं देता

है। उसे बहुत खर्चे का सामना करना पड़ता है, उसके सर्व उद्योग नष्ट हो जाते हैं और पुण्य का भी क्षय होता है।

यस्तु द्रव्यं ददाम्युक्त्वा न दत्ते स भवांतरे।
शाल्मलीतरुवद्भाति निष्फलोद्यमतत्परः।(47)

जो व्यक्ति दान देता हूँ ऐसा कहकर बाद में नहीं देता हो तो वह आगे के जन्म में बिना प्रयोजन उद्यम करने वाले शाल्मली वृक्ष के समान होकर उत्पन्न होता है।

वित्तमुक्तं न दत्तं यैर्येषां प्रागवधेर्मुदा।
उक्तं तैर्न फलं कार्य तेषामिष्ट न कुत्रचित्।(48)

जो सज्जन देने की बात कहकर मुदत के अन्दर नहीं देते हैं। उनका कहना व्यर्थ है। उनका कोई भी विश्वास नहीं करता है। अतः उनके मनोरथ की सिद्धि कहीं भी नहीं होती है।

योऽदायं दायमाहृत्य वर्तते स भवेद्धनम्।
संक्लेशो निष्फलोद्योगों मृतपुत्रांगनेशवत्।(49)

जो अपने लिये ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे धन को अपहरण कर धनवान् कहलाता है, वह सदा दुःखी रहता है। संतान के मृत होने के बाद स्त्री का पति बने रहना जिस प्रकार निष्फल व दुःखकर है उसी प्रकार उसकी हालत है।

स्मृत्वा न दत्तमुक्तवा दत्तं द्रव्यं समाहृतं येन।
त्रिभिरेतै हानिः स्यात् दानस्यायस्य तस्य नास्ति फलम्।(231)

जो व्यक्ति देने का विचार कर नहीं देता हो देने की बात कहकर नहीं देता हो एवं दिये हुए को पुनः अपहरण करता है वह पापी है इन तीनों प्रकारों से उसकी हानि होती है। और उसके दान व पुण्य का क्षय होता है, एवं उसका कोई फल नहीं है।

यावत्पशूधसि पयोऽस्ति विहाय सर्वे।
पाकाय तस्य पयसोऽर्धमुपाहरंतः।
गोपा इवात्र भुवि दातृजनस्य शक्तिं।
याचेत चितमधिगम्य गुणं च मर्त्यः।(233)

जिस प्रकार ग्वाले लोग गाय के स्तन से सर्व दूध को न निकालकर उसके

अर्धभाग ही अपने काम के लिये लेते हैं उसी प्रकार दाताओं की शक्ति, मनोवृत्ति व गुण को जानकर ही उनसे धन की याचना करें।

वा फलति न फलतीति क्षेत्रं भूपा यदा हरंति धनम्।
धनमधनजानंतो दानमिति द्रव्यमिति द्रव्यमाहंरति जनाः।(234)

खेत में उत्पन्न अच्छा हुआ है या नहीं इस बात को न जानकर ही राजा लोग धन को वसूल कर लेते हैं। इसी प्रकार यह धनवान् है या निर्धन है यह न जानते हुए ही उन लोगों से याचकजन धन लेते हैं।

पापदेहीति कष्टे यदि फलति वचो मुद्भवेन्निष्फलं तत्।
दुःखं मा मा च कोपं कुरु दुरितफलं जातमेतवत्क्षमस्व।
अक्षंत्वा दातृलोकं शपति शपति किं प्राक्कृतैनोवनौघ।
प्राबल्यायैव वृष्टिः क्षरति बहुतरा विद्धि भो भावय त्वं।(235)

देहि इस प्रकार का वचन पापकर्म के उदय से ही बोलना पड़ता है महान् कष्ट है, यदि वह वचन सफल हुआ तो हर्ष होता है, निष्फल हुआ तो कष्ट होता है। परन्तु हे भव्य! निष्फल होने पर भी दुःख मत कर, क्रोध मत कर, यह पापकर्म के उदय से हुआ, इसलिये क्षमा कर यदि क्षमा न करके दाताओं को गाली दें तो क्या होता है। पूर्वजन्म में किए हुए पाप के फल से ही ये सब कुछ होते है। इसलिये विचार करो। व्यर्थ ही किसी के प्रति क्रोधित मत होवो।

भूरि जीर्णमिदं सर्व येन साधू कृतं तदा।
तस्यैव स्यात्फलं सर्वमिति चिंतां प्रचिंतयेत्।(236)

यह सब कुछ जीर्ण हो चुके हैं, अतः साधुओं के योग्य नहीं है, ऐसा विचार सदा करना चाहिए उसी का जीवन सफल है।

सार्थो जीर्णमिदं कृत्स्नं मुदा साधु करोम्यहम्।
स्मृत्वा न कुर्यादुक्त्वा च चिंतामिति न चिंतयेत्।(237)

यह पदार्थ अत्यधिक जीर्ण हो चुका है, इसलिये साधुओं को संतोष से दे डालता हूँ इस प्रकार के विचार मन में न वचन में कभी नहीं लाना चाहिए।

देवाय पात्राय नियोचितानि यांवति वस्तूनि वसंति गेहे।

तावत्सु चैककलवं प्रदद्याच्छेषं प्रसादं प्रवदंति जैनाः।(238)

देव व पात्रों के लिये उपयोग में आने वाले जितने पदार्थ घर में मौजूद हैं उनमें से कुछ अंश को पहले से दान में देना चाहिए बाकी बचे हुए को अपने उपयोग में लेना चाहिए। उसे ऋषिगण प्रसाद कहते हैं।

केवल्यागमसंघ देववृषनिर्वादाद्धनादानतो।
मर्मस्थान भवक्षतादिव सख्यात्माप्यपुण्यो भवेत्।
वीराक्रांतरवींदुबिंबमिव मंदाग्नौ रुजौघो यथा।
वर्द्धतेऽल्पबलं नृपं त्वनियतं हंति स्वसेना यथा।(246)

भगवान् केवली, निर्दोष आगम, चतुर्विध धार्मिक संघ, चतुर्णिकायामर देव, सर्वहितकारी धर्म, इनकी निन्दा करने से व इनके संबंध के धन का अपहरण करने से इस प्राणी को महान् दुःख भोगना पड़ता है। मर्मस्थान में मार लगने से जिस प्रकार इस शरीर से आत्मा निकल जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा पुण्यरहित होता है। राहू केतु के द्वारा ग्रस्त चंद्रसूर्य के मंडल के समान निस्तेज होता है, मंदाग्नि की प्रबलता होने पर जिस प्रकार रोग का समूह बढ़ता है, हीन शक्तिवाले व अनियमित वृत्ति के धारक राजा को उसकी सेना ही जिस प्रकार मारती है, उसी प्रकार कैवल्यादिक की निन्दा करने वालों को दुःख भोगना पड़ता है।

अध्याय-8

क्या आगमोक्त पूजादि पाप कारक है?

प्रत्येक जीव सुख चाहता है एवम् दुख से दूर भागता है क्योंकि जीव का स्वाभाविक जीव सच्चिदानन्द है। संसारी जीव भी सत्स्वरूप है, अविकसित चैतन्य स्वरूप भी है परन्तु आनन्दमय अभी नहीं बना है। वह पूर्ण चैतन्य स्वरूप एवम् आनन्द स्वरूप बनने के लिये येन केन प्रकार से अनादि काल से प्रयत्नरत है परन्तु यह प्रयत्न तब तक सम्यक् नहीं होता है जब तक सम्यक् दर्शन/सत्य प्रतीति/ आगमनिष्ठ/ समताभावी नहीं हो जाता है। जब जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा गुरु उपदेश आदि को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि बनता है तब वह सत्यग्राही भी बन जाता है। तब उसे ज्ञात होता है, भान होता है कि सर्वज्ञ हितोपदेशी द्वारा प्रतिपादित

एवं परम्परा दिगम्बर जैन आचार्य द्वारा आगत सिद्धान्त ही परोपकारी सत्य सिद्धान्त है। वे अपनी शक्ति, भक्ति, परिस्थिति के अनुसार जैनागम का अनुकरण करता है। जिन सत्य, तथ्य एवम् आदर्श को अनुकरण एवं आत्मसात् नहीं कर पाता है उसको वह अपनी कमी मानकर श्रद्धा रूप में जानता है एवं मानता है किन्तु नकारता नहीं है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि जानता है एवं मानता है कि यथाजात निर्ग्रन्थ रूप अर्थात् मुनि/श्रमण बने बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती है तथा चारित्र मोहनीय के तीव्रोदय से तथा और भी कुछ कारणों से मुनिदीक्षा स्वीकार नहीं कर पाता है तो भी मुनि धर्म या मुनिचर्या की निन्दा नहीं करता है और मुनि चर्या को खोटा भी नहीं मानता है। इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक-पूजन, गुरुओं को आहार दान आदि को किन्हीं अनिवार्य कारणों से नहीं कर पाने पर भी जो उन क्रियाओं को करता है उसकी अनुमोदना करता है, प्रशंसा करता है परन्तु उसकी निन्दा नहीं करता है और उन क्रियाओं को खोटा भी नहीं मानता है तथा करने वालों को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता बल्कि यथायोग्य सहायता करता है। जैसे दयालु व्यक्ति असमर्थ-भूखें भिखारियों को भोजन देता है। यदि भोजन देने में समर्थ नहीं है तो अन्य प्रकार से सहायता करता है जो देता है उसकी सराहना करता है परन्तु वह उस भिखारी को न गाली देता है न अपमानित करता है, न विष देता है। इसी प्रकार जो भिखारी की सहायता करता है उसको भी न गाली देता है न अपमान करता है, न ही किसी प्रकार का कष्ट देता है। सम्यग्दृष्टि की हर क्रियाओं से विपरीत क्रियायें ही मिथ्यादृष्टि में परिलक्षित होती है। कुछ व्यक्ति तो स्वयं अपना कर्त्तव्य नहीं करेंगे परन्तु जो कर्त्तव्य करते हैं उनकी निन्दा करेंगे, उनको अपमानित करेंगे, उनको विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भी देंगे। पापोदय से यदि स्वयं अच्छे भोजन नहीं कर पाते हो, दूसरों को भोजन नहीं दे पाते हो तो जो स्वयं अच्छे भोजन करते हैं या दूसरों को करवाते हैं, उनसे ईर्ष्या क्यों करते हैं? घृणा क्यों करते हो? उन्हें विष क्यों पिलाते हो?

कुछ लोग स्वयं को आगमनिष्ठ बताते हुए भी जो आगमानुसार अभिषेक पूजादि करते हैं उन्हें वे धर्मबाह्य, रुढ़िवादी, हिंसक, शिथिलाचारी, काष्ठासंघी, भट्टारक-परम्परावादी, मिथ्यादृष्टि कहते हैं और मानते भी हैं। वे कहते फिरते हैं कि आगम को नहीं मानना मिथ्यात्व है तो फिर वे स्वयं कौन है जो आगम की दुहाई देते हुए भी

स्वयं आगम को नहीं मानते, तद्नुकूल आचरण नहीं करते और यहाँ तक की आगमानुसार आचरण करने वाले की निन्दा करते है एवं विरोध भी करते हैं। यदि स्वयं आगमानुसार आचरण नहीं करते हैं तो कम से कम आगमानुसार आचरण करने वालों से समता/माध्यस्थभाव रखना चाहिये।

मैंने जो अभी तक विभिन्न प्रदेशों के महानगर से लेकर छोटे ग्रामों का परीक्षण किया उससे मेरा अनुभव हुआ है कि प्रायः दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों में अभिषेक एवं पूजा को ही लेकर परस्पर में समाज में फूट पड़ती है एवं धर्म की हँसी होती है, शक्ति का ह्रास होता है। इसके कारण ही धर्म की या समाज की प्रगति नहीं होती है। इतना ही नहीं जैनेतर लोग इन उपरोक्त कारणों से जैन धर्मावलम्बियों को येन केन प्रकारेण से दबाने के लिये कोशिश करते हैं। आँख बन्द कर दूध पी जाने वाली बिल्ली के समान कुछ जैनी सोचते हैं कि हमारी कमियों को, गलतियों को कोई नहीं देखते हैं और न ही जानते हैं। बिल्ली को मार पड़ने पर नानी याद आती है परन्तु जैन धर्मावलम्बियों को मार पड़ने पर भी वे अपनी गलतियों को न जानते हैं न मानते हैं न ही दूर करते हैं और न ही प्रमार्जित करते हैं। इन सब कमियों के कारण अनेक दिगम्बर जैन मंदिर, क्षेत्र, संस्थाओं को अन्य लोग अपने अधिकार में कर लेते हैं। उपरोक्त कारणों के निरसन करने के लिये मैंने ''संगठन के सूत्र'' नामक पुस्तक लिखी है जिज्ञासु उसे पढ़ें।

जैन धर्म रत्नत्रयात्मक, अनेकांतमय, अहिंसामय, परम उदार धर्म है। इस जैन धर्म में हर विषय को सापेक्ष रूप से उदार भावना से देखा गया है। सम्पूर्ण आरंभ-परिग्रह तथा कर्मों से विरत होना सम्यग्दृष्टि का परम लक्ष्य है। तथापि सम्यग्दृष्टि श्रावक चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से सर्व विरत रूप मुनि धर्म को धारण नहीं कर पाता है। इसलिये वे विषय वासनाओं से बचने के लिये विभिन्न आवलम्बनों से शुभोपयोग में मन लगाता है। इसलिये वह चार प्रकार के दान देता है मंदिर निर्माण करता है, तीर्थक्षेत्र की यात्रा करता है, देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करता है। इन उपरोक्त कारणों में स्वयंमेव आनुषंगिक रूप में स्थावर के साथ-साथ त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है परन्तु यह आनुषंगिक हिंसा उसके लिये अधिक दोषावह नहीं है। जैनाचार्यों ने श्रावक के धर्म को एक प्रकार का व्यापार कहा है। जिस प्रकार व्यापार करने के लिये पहले

धन-पूँजी लगाते हैं फिर पूँजी प्राप्त करते हैं। यदि वे पहले पूँजी विनियम नहीं करेगा तो लाभ भी प्राप्त नहीं कर सकता है। किसान खेत में अनेक क्विंटल बीज पहले डालता है जिससे वह उससे भी अधिक बीज को प्राप्त करता है। यदि किसान विचार करे कि मैं खेत में बीज डालकर क्यों बरबाद करूँ तो वह आगे के अधिक लाभ से वंचित रह जायेगा। इसी ही प्रकार जैन गृहस्थ श्रावक यदि दान पूजादि से हिंसा होती है ऐसा विचार करके दान पूजादि नहीं करेगा तो वह उस सम्बन्धी शुभोपयोग, पुण्य सम्पादन एवं पाप की निर्जरा से वंचित रह जायेगा। यदि विवेक पूर्वक शुद्ध आगमोक्त पंचामृत अभिषेक पुष्प फलादि से पूजा करने से एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा होती है मान कर त्याग किया जावे तो जल से भी अभिषेक, अष्ट द्रव्य से पूजा, मूर्ति निर्माण, मंदिर निर्माण, तीर्थ-यात्रा, आहार दानादि से भी त्रस, स्थावरों की हिंसा होने से यह भी वर्जनीय हो जायेगा क्योंकि जल की एक बूँद में विज्ञान की अपेक्षा 36450 त्रस जीव रहते हैं और जैन धर्म के अनुसार इससे भी अधिक त्रस जीव रहते हैं। यह तो हुई त्रस जीवों की संख्या परन्तु एकेन्द्रिय जलकायिक स्थावर जीव तो एक बिन्दु में असंख्यात होते हैं। जब अभिषेक के लिये-आहार दान के लिये, मंदिर निर्माण के लिये जल का प्रयोग करते हैं तब इसमें स्थित त्रस जीव तो मरते हैं और उसमें स्थित सम्पूर्ण असंख्यात स्थावर जीव भी मरते ही हैं। यदि कोई कहे की हम सब जल को प्रासुक करके प्रयोग करते हैं तब हिंसा किस प्रकार हुई? वो नहीं जानते हैं कि प्रासुक का क्या अर्थ होता है? प्रासुक का अर्थ होता है जल को गर्म करके व इलायची आदि तीक्ष्ण वस्तुओं को डालकर सम्पूर्ण जीवों से रहित करना है। इसका अर्थ है जलाकयिक जीवों का मरण। कोई कहे कि हमारी भावना तो जीवों को मारने की नहीं रहती है किन्तु हमारी भावना तो पूजा करने की रहती है। तो जो पुष्प-फलादि से पूजा, पंचामृताभिषेक करता है उनकी भावना क्या जीवों को मारने की होती है? शुद्ध, दूध, दही, घी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं। पुष्प या फल परिपक्व अवस्था में आ जाता है तब उनमें से कुछ स्वयमेव ही वृक्ष से अलग हो जाते हैं तो कुछ को अलग किया जाता है। अलग होने के बाद उस पुष्प फलादि में अधिक से अधिक आत्मप्रदेश अन्तमुहूर्त तक रह सकते हैं ऐसे विद्वानों का मत है। उसके बाद वह अचित्त हो ही जाता है। कहा भी है -

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंत्तेण य छिण्णं तं सव्वं फासुवं भणियं।।

सूखने से, पकने से, आग पर गर्म करने पर, अम्ल लवण को मिलाने से, यंत्र से छिन्न-भिन्न करने से प्रत्येक एकेन्द्रिय सचित्त फलादि प्रासुक हो जाते हैं।

सचित्त विरत प्रतिमा पाँचवीं प्रतिमा है। इस प्रतिमा में श्रावक सचित्त भोजन नहीं करता है परन्तु इसके पहले-पहले के प्रतिमाधारी भी सचित्त भोजन करते हैं। यह सचित्त विरत प्रतिमा धारी फलादि को उचित करके भोजन करता है। यथा-

भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने।
तत्स्वहुस्तदिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत्।।(17) ला.सं.

सचित्त प्रतिमा में सचित्त के भक्षण का नियम है, सचित्त को स्पर्शन करने का नियम नहीं है। इसीलिये अपने हाथ से उसे प्रासुक करके भोजन में ले सकता है।

यदि पहली प्रतिमा से चौथी प्रतिमा तक पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक भी सचित्त भोजन कर सकता है। तब क्या वह धार्मिक कार्यों में आनुषंगिक रूप में जो स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है उसके भय से उन धार्मिक क्रियाओं को छोड़ सकता है? यदि केवल फल पुष्पों के लिये हठग्राहिता है तो अभिषेक के लिये आहारदान के लिये जल को अचित्त करके प्रयोग में नहीं ले सकता है क्योंकि इनमें भी तो सचित्त जल को अचित्त किया जाता है।

श्रावक संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है। अप्रयोजनभूत अनावश्यक एकेन्द्रिय जीव की भी विराधना नहीं करता है परन्तु गृहस्थ कार्यों से स्थावर जीवों के साथ आरंभी, उद्योगी विरोधी रूप त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा तक हो जाती है तब धर्म के लिये आनुषंगिक स्थावर हिंसा अतिगर्हित नहीं है। जो कुछ हिंसा होती है वह हिंसा भी संकल्प पूर्वक या दूषित भाव से नहीं की जाती है। इसीलिये तो समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि -

दही, दूध, गंध, पुष्प मालादि से पूजा करने पर जो पाप होता है वह पाप पुण्य के अनुपात से बहुत ही कम होने पर सावद्य/पापकारक नहीं है। यथा-

ननु दधिदुग्धगन्धमाल्यादिना भगवतः पूजाभिधाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः

सावद्य सद्भावादित्याशङ्क्य कयाह...

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।(3)

(स्वयंभूस्तोत्र)

पूज्यमित्यादि- पूज्यमाराध्यं जिनमर्हन्तं त्वा त्वां वासुपूज्यं अर्चयतः पूजयतः जनस्य भवप्राणिगणस्य सावद्यलेशः अवद्यं पापं सह अवद्येन वर्तते इति सावद्यं कर्म तस्य लेशो लवः पूजां कुर्वतो यः सम्पन्नः स दोषाय पुण्योपार्जने प्रवृत्तदोषः पापोपार्जनं तस्मै न अलं न समर्थो भवति, कस्मिन्? बहुपुण्यराशौ प्रचुरपुयपुज्जे तेनोपहतशक्तित्वात्तस्य। केवेत्याहकणिका मात्रालवो विषस्य न दूषिका न मारणात्मक विष धर्म संपादिका। क्व? शीतशिवाम्बुराशौ शीत तं च शीतलं च शिवं च स्पर्शनेन्द्रियप्रह्लदकरं तच्च तदम्बु च जलं तस्य राशिः संधातौ यत्रासौ शीतशिबाम्बुराशिः समुद्रस्तस्मिन्।

हे नाथ! पूजा की सामग्री जुटाते समय आरम्भादि के कारण पूजा करने वाले मनुष्य के जो अल्पतम द्रव्य हिंसा होती है तथा सराग परिणति के कारण अल्पतम भाव हिंसा होती है उससे पूजा करने से जो विशाल पुण्य उत्पन्न होता है उसके समक्ष वह अल्पतम हिंसा नगण्य होती है ठीक उस तरह जिस तरह कि शीतल और आनन्द दायी जल के समुद्र में विष की एक कणिका।

जिस आहारदान करने में पानी छानना, गर्म करना, आग जलाना फल बनाना, बर्तन साफ करना, चौका साफ करना, वस्त्र धोना, स्नान करना आदि से त्रस, स्थावरों की भी हिंसा हो जाती है तथापि वह पाप उद्देश्य पूर्वक नहीं किया जाता है परन्तु उद्देश्य महान् एवं पवित्र होने के कारण आहारदान में जो पाप होता है वह दोषकारक नहीं है क्योंकि आहारदान में गुरु के प्रति अनुराग होता है, पुण्यबन्ध होता है। इसी प्रकार अभिषेक पूजा, तीर्थयात्रा, आदि से जानना चाहिए।

चावल में यदि पुष्प, फलादि की स्थापना करके ही काम लिया जाय तब उसमें भी उपरोक्त गुणों के साथ-साथ दोष भी है। जहाँ पर जिस स्थान में पुष्प फलादि नहीं है वहाँ पर उसकी स्थापना तंदुल में करके पूजा में प्रयोग में लाना चाहिये। जहाँ पर और जब आगमोक्त शुद्ध, पुष्प, फलादि हैं तो उसका भी प्रयोग विवेक पूर्वक करना चाहिए और ऐसा आगम में वर्णन पाया जाता है यदि पुष्पादि में दोष है तो स्थापित पुष्पादि में

भी दोष लगेगा। जिस प्रकार यशोधर के द्वारा आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाने से उसको उसके पाप से अनेक भव तक अनेक यातनायें सहन करनी पड़ी। इसी प्रकार पुष्प, फलादि चढ़ाने में दोष मानने पर स्थापित पुष्प, फलादि के चढ़ाने में भी उतना ही दोष लगेगा और एक विचारणीय विषय है कि साक्षात् अरहन्त भगवान् की पूजा तो नहीं करते मूर्ति में स्थापितः अरिहंत की ही पूजा करते हैं तो यह उचित एवं विवेक पूर्ण कार्य नहीं है। इसी प्रकार यथार्थ आगमोक्त प्रासुक शुद्ध अष्टद्रव्य है उससे श्रावक पूजा न करके स्थापित अष्टद्रव्य से पूजा करता है तो यह भी असम्यक् है। शक्ति एवं उपलब्धि होते हुए भी यदि, चावल में स्थापित पुष्प, गिरी में स्थापित दीपक एवं नैवेद्य से पूजा करते हैं तो इससे मायाचारी एवं झूठ का भी दोष लगता है। इतना ही नहीं आगम को नहीं मानने पर आगम का भी अपलाप होता है, आज्ञा सम्यक्त्व में भी दोष लगता है।

कुछ लोग आगम को जानते हैं और मानते भी है तथापि स्थानीय परम्परा या मन्दिर परम्परा के कारण आगमोक्त पद्धति से अभिषेक, पूजा आदि नहीं कर पाते हैं। कुछ व्यक्ति अपने ग्राम में परम्परा के कारण आगमोक्त पूजा आदि नहीं कर पाते हैं। परन्तु बाहर कहीं जाकर यदि आगमोक्त पद्धति से पूजा होती है तो वहाँ पूजा कर लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो स्थानीय परम्परा के कारण अपने ग्राम में, नगर में, जो आगमोक्त पद्धति से पूजा आदि होती है, उसका विरोध तो करेंगे परन्तु श्रवण बेल गोला, महावीर जी आदि में जाकर स्त्री, परिवार सहित लाखों रूपये देकर पंचामृत अभिषेक करेंगे व फल आदि चढ़ायेंगे। जो स्वनगर में तो विरोध करते है और दूसरे स्थान में जाकर आगमोक्त पूजा आदि करते हैं उन्हें विचार करना चाहिये कि यदि स्थानीय परम्परा के कारण स्वयं नहीं कर पाते हैं तो जो आगमोक्त रीति से करते हैं कम से कम उनका तो विरोध नहीं करें।

आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी, पंडित, सम्यग्दृष्टि श्रावक, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि की दृष्टि आगम दृष्टि होती है। इसलिये आचार्य, उपाध्याय, साधु की दृष्टि एवं क्रिया आगमोक्त होती है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है ''आगम चक्खु साहु'' अर्थात् वे आगम के अनुसार देखते हैं, जानते हैं, मानते है। आवश्यकता होने पर धर्म की रक्षा, समृद्धि के लिये वे

आगम के अनुकूल ही उपदेश देते हैं, आगम का एक भी शब्द न वे विपर्यास करते हैं न विपरीत बोलते हैं। परन्तु अभी कुछ आचार्य, उपाध्याय, साधु, पंडित, आदि आगमोक्त अभिषेक पूजा आदि का न उपदेश करते हैं न पूछने पर आगमोक्त पद्धति से उत्तर देते हैं कुछ तो स्थानीय रूढ़ि, परम्परा के अनुसार उपदेश करते हैं एवम् उसका हठ भी पकड़ते हैं यहाँ तक कि जिस शास्त्र में पंचामृत अभिषेक, पुष्प, फल आदि चढ़ाने का स्पष्ट निर्देश है उस शास्त्र के प्रणेता महान् आचार्यों तक को दिगम्बर मूल परम्परा से बाह्य यथा-काष्ठा संघी, यापनीय संघी मानते हैं और कुछ बोलते हैं यह परम्परा अजैनों से ली गई या भट्टारक-परम्परा है। कुछ शास्त्र ऐसे भी हैं जिसमें पंचामृत आदि का वर्णन है उस समय काष्ठा संघ, भट्टारक परम्परा नहीं थी। यदि पंचामृतभिषेकादि मूल संघ से बाह्य है तो उसके अन्य सिद्धान्त मूल परम्परा के कैसे हो सकते हैं? इतना ही नहीं जिस आचार्य ने एवं जिस शास्त्र में काष्ठा संघ आदि का खण्डन है उसी शास्त्र में पंचामृत अभिषेक आदि का वर्णन है। उदाहरण के तौर पर ''देवसेन आचार्य का भाव संग्रह एवम् सोमदेव सूरी के यशस्तिलक चम्पू आदि जो मानते हैं अजैन परम्परा से हमारे आचार्यों ने ये सब ग्रहण किया है तो क्या हमारे आचार्य मिथ्या परम्परा को स्वीकार करके स्वयं मिथ्यादृष्टि बने एवं अन्य को मिथ्यादृष्टि बनाना चाहे? और क्या जैन परम्परा या जैन आचार्य इतने दीन हीन गरीब हैं जो कि अन्य परम्परा से मिथ्या परम्परा को स्वीकार किये? जो पंचामृत आदि को नहीं मानते हैं वे भी तो जैन धर्म को अनादि निधन मानते हैं तो ऐसे अनादि निधन, शुद्ध, समृद्ध जैन धर्म के आचार्य दीन, हीन, भिखारी, परोपजीवी कैसे हो सकते है?

कुछ आचार्य आदि आगमोक्त पूजा आदि को जानते भी हैं मानते भी हैं परन्तु लोक संग्रह के लोभ से या लोक के कोपभाजन न बनना पड़े इसलिये पूजादि के लिये जिज्ञासा करने पर भी स्पष्ट उत्तर नहीं देते हैं, दूसरों को गुमराह करते हैं वे सत्य को नहीं छिपाते हैं? हाँ, केवल कोई कुतर्की खोटे भावों से झगड़ा करने के लिये प्रश्न करता है तो उस समय में मौन रहना अलग विषय है।

यदि पंचामृत अभिषेक आदि में हिंसा होती है इसलिये नहीं करना चाहिये, तो मन्दिर बनाने में, यात्रा करने में, आहार दान देने में इससे अधिक हिंसा होती है, तो ये भी अकरणीय हो जायेगा। तब तो श्रावकों के अनेक कर्त्तव्य लोप हो जायेंगे। तीर्थंकर

धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक हैं तो श्रावक आहार दान रूपी व्यवहार-तीर्थ के प्रवर्तक हैं। आहार दान रूपी व्यवहार तीर्थ के लोप से धर्म-तीर्थ का भी लोप हो जायेगा।

कुछ गृहस्थ ऐसे भी होते हैं जो धन के लिये निहित स्वार्थ के लिये बहुत बड़ी-बड़ी त्रस-स्थावर की हिंसा कर लेते हैं। निषिध व्यापार, चर्म व्यापार, जमीकंद का व्यापार, तेल की मील, ईट की भट्टी, शराब की फैक्ट्री एवम् दुकान, तम्बाकु, बीड़ी, सिगरेट आदि बनाते हैं एवं विक्रय करते हैं एवम् यहीं व्यक्ति धर्म क्षेत्र में जाकर शुद्ध धार्मिक परम्पराओं का अहिंसा के नाम पर विरोध करते हैं। इसका विशेष वर्णन मैंने मेरी किताब ''ये कैसे धार्मिक, निर्व्यसनी, राष्ट्र सेवी'' में किया है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ अवलोकनीय है।

कुछ गृहस्थ घर में एवं विवाह आदि में अनछना पानी जमीकंद, शराब आदि का प्रयोग करते हैं, एवं लाखों त्रसजीवों से सहित पुष्पों की मालायें पहनते हैं, सजावट में प्रयोग में लाते हैं गाड़ी में सजाते हैं, नीचे बिछा कर उन पर चलते हैं, उन पर सोते हैं तो क्या इससे पाप बन्ध नहीं होता? क्या यह सब विवेक से होता है? क्या इस से जीवों को कष्ट नहीं होता है? क्या ये शुभ धार्मिक क्रियायें हैं? भोग के लिए, धन के लिये, निहित, स्वार्थ के लिये तो जानबूझ कर पाप करते रहेंगे परन्तु धार्मिक क्षेत्र में अपनी अवस्थानुसार विवेक पूर्ण आगमानुसार धार्मिक क्रिया करते हुए जो थोड़ी सी आनुसंगिक द्रव्य-हिंसा हो जाती है उसको लेकर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, फूट आदि करके अधिक भाव हिंसा करेंगे।

कुछ लोग कहते हैं हम तो पेट पोषण करने के लिये, धन कमाने के सांसारिक कार्यों में पाप कमाते ही हैं परन्तु मंदिर में आंकर पंचामृत अभिषेक आदि करके धार्मिक क्षेत्र में पाप क्यों कमायेंगे? उनका यह कुतर्क आगम विरुद्ध एवम् कुटिल भावों सु युक्त है। जैसे कोई कहेगा कि हम भोजन बनाने के लिये जो पानी लाते हैं, आग जलाते हैं, फल सुधारते हैं, उससे तो पाप बन्ध होता ही है परन्तु आहार दान रूपी धार्मिक क्रियाओं के लिये पानी क्यों लायेंगे, आग क्यों जलायेंगे, फल क्यों सुधारें क्योंकि इसमें हिंसा होती है, पाप बन्ध होता है। तो क्या उनके ये तर्क विवेक, सहित, आगम सम्मत, एवम् भाव विशुद्धि सहित है? नहीं, कदापि नहीं।

कुछ लोग सुपारी, बादाम आदि को उचित्त मानते हैं परन्तु इसमें भी योनिभूत जीव

है क्योंकि इसमें भी जीव-उत्पत्ति की शक्ति रहती है क्योंकि उसको बोने से अंकुर की उत्पत्ति होती है। कोई कहे कि पंचामृत अभिषेक के बाद उसमें जीव की उत्पत्ति होती है इसलिये पंचामृत अभिषेक वर्जनीय है तो क्या जलाभिषेक में मर्यादा के बाद एवं अष्ट द्रव्य में भी जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है? और एक विचारणीय विषय है कि साधु को जो आहार देते हैं उससे मल भी बनता है और साधु उस मल को विसर्जन करते हैं जिसमें अनेक जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा विचार करके क्या साधु को आहार देना पाप है? वर्जनीय है? जब मूर्ति या मंदिर बनाते हैं तब असंख्यात पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा होती है और मूर्ति के लाने ले जाने में अनंत त्रस, स्थावर जीवों की मृत्यु होती है तब क्या यह कार्य भी वर्जनीय है? क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले मुनि के शरीर में स्थित अनंत त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा होती है तो क्या क्षपक श्रेणी आरोहण करना पापात्मक है? नहीं, कदापि नहीं क्योंकि उपरोक्त कार्य में उद्देश्य एवं भावना पवित्र एवं अहिंसात्मक रहती है इसलिये उपरोक्त कार्य पापकारी नहीं है। इसी प्रकार पूजा, अभिषेक आदि में जानना चाहिये। विशेष जिज्ञासु मेरी 'जिनार्चना' पुस्तक का अध्ययन करें।

विषयानुक्रमणिका
(पद्य-विभाग)

क्र.	विषय	पृ. स.
1.	धर्म की आत्मकथा	206
2.	मेरी स्व-प्रभावना व बाह्य प्रभावना	207
3.	तुझ में ही तेरा अंतरात्मा व परमात्मा	208
4.	संकीर्ण पंथ-मत से परे मेरा मोक्ष पथ	209
5.	सत्य-समता-शांति ही स्व-धर्म अन्य सभी परधर्म/(कुधर्म)	210
6.	मुझे मेरा स्व-स्वरूप/(मैं) परिज्ञान से लाभ	211
7.	8 मूलगुण व 12 व्रत युक्त श्रावक भी नहीं होता पूर्ण धार्मिक	213
8.	धर्मध्यान-द्रव्य-तत्त्व-पदार्थों का चिंतन	214
9.	ध्यान मेरे लिए परम कर्तव्य-	216
10.	समता परमो धर्मः	217
11.	सातिशय पुण्य से पाप दूर व मोक्ष प्राप्ति	219
12.	उत्साहपूर्वक करते हैं पाप	220
13.	सत्य-असत्य-हित-अहित का परिज्ञान नहीं होने के कारण	222
14.	सरल (शुद्ध) होना सहज व कुटिल (अशुद्ध) होना विषम/(जटिल)	223
15.	आत्मविकास हेतु मुझे करणीय व अकरणीय	224
16.	सरल-सादा होने से मुझे प्राप्त लाभ	226
17.	मैं मेरे निश्चय से परमतीर्थ आदि हूँ	229
18.	मैं ही मेरे हेतु मोक्षमार्ग व मोक्ष	230
19.	वन्दे तद्गुणलब्धये हेतु ही पूजा- प्रार्थनादि करूँ	231

धर्म की आत्मकथा

(धर्म का पावन सत्य स्वरूप व विकृत असत्य रूप)

(चालः-आत्मशक्ति...)

मैं हूँ धर्म सब से महान् सब से महान् मेरा काम।
मेरे बिना न मिले, सांसारिक सुख से ले मोक्षधाम।।
मेरे अनेक पर्यायवाची नाम, वस्तु स्वभाव क्षमादि धर्म।
आत्म विश्वास ज्ञान चारित्र व अहिंसा सत्य अचौर्य अपरिग्रह।। (1)।।
जो-जो वस्तु के होते हैं शुद्ध स्वरूप वे ही मेरे होते सही रूप।
जो-जो वस्तु के होते अशुद्ध रूप वे ही मेरे होते हैं मिथ्यारूप।।
यथा जीवों का स्वरूप है सच्चिदानन्द यह ही जीवों का निजधर्म।
इस से विपरीत सभी अधर्म, राग-द्वेष मोह कामादि भाव।। (2)।।

समता शान्ति व शुचि उदारता, मेरा ही सही स्वरूप जान।
सेवादान व परोपकार मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भाव।।
ईष्या घृणा व तृष्णा से शून्य, सन्तोष सहिष्णुता मेरा ही रूप।
भेदभाव व पक्षपात परे व्यापक समन्वय मेरा ही रूप।।(3)।।

नीति-नियम व सदाचार मर्यादा व अनुशासन स्वालम्बन।
दबाब-प्रलोभन व भय रहित, सार्वभौम स्वतंत्रता भी मेरा नाम।।
आध्यात्मिक शुद्धि व आत्म उन्नति, आत्मानुभूति भी मेरा नाम।
ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग मेरी उपलब्धि हेतु होते साधन।।(4)।।

ऐसा ही पूजा-पाठ व जप-आराधना तीर्थयात्रादि भी होते साधन।
यदि से सभी मेरी उपलब्धि हेतु न होते ये सभी न होते धार्मिक काम।।
मेरा दुरुपयोग करते दृष्ट मानव, जो राग-द्वेष मोह स्वार्थ सहित।
मेरे स्वरूप से विपरीत करते अन्याय अत्याचार से लो आतंकवाद।।(5)।।

मेरे नाम पर भी करते आक्रमण, युद्ध वैर-विरोध व हत्या तक।
भेद-भाव व ऊँच-नीच ईर्ष्या, घृणा से लेकर जीव-बलि तक।।
जिस से स्वपर को कष्ट मिले वे सभी नहीं होते मेरा स्वरूप।

जिस से स्व-पर को शान्ति मिले वे सभी होते हैं मेरा स्वरूप।।(6)।।

अन्तोदय से सर्वोदय व अभ्युत्थान से ले परिनिर्माण तक।
मेरे कारण ही प्राप्त होते मेरे अभाव से मिले नरक-निगोद।।
आत्म (सत्य) विश्वास से मैं होता प्रारंभ परिनिर्माण में मेरा सम्पूर्ण।
इससे विपरीत होता अधर्म मिथ्याविश्वास से ले संसार भ्रमण।।(7)।।

सर्वज्ञ वीतरागी हितोपदेशी ही मेरा कर सकते सम्पूर्ण वर्णन।
स्व-पर-विश्व कल्याण हेतु 'कनक' ने किया मेरा संक्षिप्त वर्णन।।

मेरी स्व-प्रभावना व बाह्य प्रभावना

(स्व प्रभावना से बाह्य प्रभावना स्वतः होती है)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-मन रे! तू काहे...)

जिया रे! तू <u>स्व-प्रभावना</u> कर ऽऽऽ
स्व-प्रभावना से <u>बाह्य प्रभावना</u> ऽऽऽ स्व-पर प्रकाशी तू बन ऽऽऽ (ध्रुव)
जो दीपक स्वयं होता प्रकाशित ऽऽऽ अन्य भी होते <u>स्वयं प्रकाशित</u> ऽऽऽ
जो दीपक न होता स्वयं प्रकाशित ऽऽऽ अन्य को न करता प्रकाशित ऽऽऽ
आत्मदीप पहले बन रे ऽऽऽ (जिया) (1)

आत्मा प्रभावना हेतु करो साधना ऽऽऽ आत्मविश्वास-ज्ञान-चरित्र द्वारा ऽऽऽ
निस्पृह-निराडम्बर-समता द्वारा ऽऽऽ ध्यान-अध्ययन-तप-त्याग द्वारा ऽऽऽ
सरल-सहज-शांति के द्वारा ऽऽऽ (जिया) (2)

इससे करो तू आत्म विशुद्धि ऽऽऽ आत्मा की करो अनुभूति ऽऽऽ
स्वयं को शुद्ध-बुद्ध-आनंद करो ऽऽऽ संक्लेश-द्वंद्व से विमुक्ति ऽऽऽ
निर्बाध-निर्विकार तू बन ऽऽऽ (जिया) (3)

इससे होगी तेरा आत्मिक शक्ति वृद्धि ऽऽऽ जिससे होगी आत्मप्रभावना ऽऽऽ
इस हेतु धनजन आडम्बर न चाहिए ऽऽऽ पर अपेक्षा-उपेक्षा न प्रतीक्षा ऽऽऽ
अतः स्व-प्रभावना सरल-सहज ऽऽऽ (जिया) (4)

स्व-प्रभावना बिन बाह्य प्रभावना हेतु ऽऽऽ चाहिए धन-जन व साधन ऽऽऽ
इस हेतु होते दबाव-प्रलोभन ऽऽऽ चंदा व बोली या याचना ऽऽऽ
इससे होते संक्लेश-विराधना ऽऽऽ (जिया) (5)
जिससे अप्रभावना अधिक होती ऽऽऽ स्व-पर को न मिले समता शांति ऽऽऽ
इह पर लोक में (भी) न आत्म उन्नति ऽऽऽ न मिलती परम मुक्ति ऽऽऽ
'कनक' का लक्ष्य परम मुक्ति ऽऽऽ (जिया) (6)

आत्म सबोधन-

तुम में ही तेरा अंतरात्मा व परमात्मा

(भव्य ही बनता है भगवान्)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. क्या मिलिए ऐसे लोगों से.... 2. तुम दिल की...)
तुम में ही समाहित तेरा परमात्मा,
कहाँ ढूँढ रहा है बहिरात्मा।
तिल में तैल दूध में घृत सम, तुझ में ही तेरा अंतः परमात्मा।।
यथा बीज ही बनता अंकुर से वृक्ष, द्रव्यक्षेत्र-कालादि निमित्त पाकर।
तथाहि भव्य ही बनते भगवान्, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि को पाकर।।(1)
इस हेतु तुझे भी त्यागना होगा, बहिरात्मा रूपी मोह-राग भाव।
शरीर-सत्ता-सम्पत्ति न तेरा स्वरूप, तू तो सच्चिदानंदमय अमूर्त जीव।।
ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा से बनोगे अंतरात्मा, अष्टमद-सप्तव्यसन-रहित पना।
सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु धर्म में आस्था, दान-दया-सेवा-परोपकार सहित।।(2)
ज्ञान वैराग्य सहित बनोगे श्रमण, अंतरंग-बहिरंग ग्रंथ त्याग से।
ध्यान-अध्ययन व मनन चिंतन से, विकास होगा तेरा ही अंतरात्मा।।
ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व रहित, समता-शांति-निस्पृहता युक्त।
आत्मविशुद्धि आत्म रमण द्वारा, अतंरात्मा से बनोगे परमात्मा।।(3)
परमात्मा में पाओगे शुद्ध-बुद्ध-आनंद, जन्म-जरा-मरण रहित पद।
अनंत ज्ञान-दर्श-सुख-वीर्य सम्पन्न, इस हेतु ही बना 'कनक' श्रमण।।(4)

संकीर्ण पंथ-मत से परे मेरा मोक्ष पथ

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-छोटी-छोटी गैया...)
मुझे तो चाहिए मोक्ष/(आत्म, सत्य) पथ, जो सर्वज्ञ वीतरागी द्वारा ज्ञात है।
मुझे न चाहिए संकीर्ण पंथ-मत/(अनात्म, असत्य), जो राग द्वेष से सहित है।।
सर्वज्ञ वीतरागी ही हो सकते है, यथार्थ मोक्ष मार्ग के उपदेशक।
सर्वज्ञ होने से जानते सभी हैं, वीतरागी होने से यथार्थ उपदेशक।।(1)
अन्य के उपदेश न होगा यथार्थ, जो जानते नहीं है संपूर्ण सत्य।
वीतरागी पूर्णतः नहीं होने से, पक्षपात रहित न बोलेंगे सत्य।।
सर्वज्ञ वीतरागी होते हैं, अनंत ज्ञान-दर्श-सुख-वीर्य सम्पन्न।
क्षुधा-तृषा-आधि-व्याधि से लेकर, अठारह दोषों से होते शून्य।।(2)
इन्होंने बताया है मोक्ष पथ, आत्मा से प्रारंभ होकर आत्मा में स्थित।
आत्मा में ही होता विकास, आत्मा में ही होता समाप्त।।
आत्मविश्वास में होता प्रारंभ, जिससे ज्ञान भी होता सम्यक्।
राग-द्वेष-मोह दूर करना चारित्र, तीनों मय ही है मोक्षपथ।।(3)
इसका ही विस्तार है क्षमा-सहिष्णुता-उदारता-शुचिता व समता।
सरल-सहजता व निस्पृह-निराडम्बर व आत्मा में स्थिरता।।
अहंकार व ममकार शून्यता, भेदभाव रिक्त होती साम्यावस्था।
परनिंदा अपमान रहित, वैर-विरोध द्वंद्वादि रहित अवस्था।।(4)
इससे ही श्रद्धा प्रज्ञा व अनुभव से स्वयं का वेदन होता यथार्थ।
स्वयं में ही स्वयं का मोक्ष पथ है, स्वयं की उपलब्धि यथार्थ मोक्ष।।
स्वयं का अनुभव होता है, सच्चिदानंदमय जो अमूर्तिक अव्याबाध।
इसकी प्राप्ति हेतु ही होती साधना, जिससे नष्ट होते सभी विभाव।।(5)
इस हेतु ही पालन होते व्रत-नियम, तप-त्याग व ध्यान-अध्ययन।
यथायोग्य गृहस्थ से लेकर, सर्व सन्यासमय श्रमण धर्म।।
इससे विपरीत सभी न होते मोक्षपथ, सभी होते संसार पथ।
मोक्षपथ को पूर्ण करने हेतु, 'कनकनन्दी' भाव से साधना रत।।(6)

सत्य-समता-शांति ही स्व-धर्म अन्य सभी परधर्म/(कुधर्म)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1.क्या मिलिए...2.आत्मशक्ति...)

आत्म स्वभाव ही स्व-धर्म है अन्य सभी है पर धर्म/(कुधर्म)।
सत्य-समता-शांति/(आनंद) स्वधर्म/(स्व-गुण) है इससे भिन्न सभी अधर्म।।
सत्य में समाहित शुद्धात्मा-द्रव्य अतः आत्मा स्वधर्म।
समता में समाहित शुद्धात्मा गुण, अतएव समता आत्मधर्म।।(1)

सत्य-समता में समाहित शांति अतः शांति भी स्व-धर्म।
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि उक्त गुणों से विपरीत (है) अतः अधर्म।।
आत्मविश्वास व ज्ञान चारित्र (व) उत्तम क्षमादि दशधर्म।
उक्त गुणों में ही समाहित है अतः ये भी आत्मा के स्व-धर्म।।(2)

अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह भी स्व-धर्म।
इससे विपरीत हिंसादि आत्मा से भिन्न है अतः कुधर्म/(परधर्म)।।
सरल-सहजता-पवित्र-उदारता, आत्मा होते हैं स्वगुण।
इसलिए ये आत्मा के धर्म, इससे विपरीत होते अधर्म।।(3)

संकल्प-विकल्प व संक्लेश परे, होते उक्त तीनों गुण।
इसलिए ही संकल्प-विकल्प व संक्लेश होते है कुधर्म।।
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-वैर-विरोध व परनिंदा व अपमान।
होते हैं उक्त तीनों गुण से विपरीत अतः ये भी है अधर्म।।(4)

स्वधर्म प्राप्ति हेतु व विधर्म त्याग हेतु (ही) होती धर्म साधना।
स्व-धर्म यदि न होते प्रगट वह/(धर्म) साधना भी है विराधना।।
जीवित रहने हेतु करते भोजन यदि भोजन से होता मरण।
ऐसा भोजन भी न है ग्रहणीय, तथाहि विराधक साधना त्याज्य।।(5)

तीनों गुणों की प्राप्ति के हेतु, करणीय धर्म की साधना।
अंतरंग-बहिरंग बाधक त्याज्य, 'कनक' की ऐसी भावना।।(6)

मुझे मेरा स्व-स्वरूप/(मैं) परिज्ञान से लाभ

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-आत्मशक्ति...)

सर्वज्ञ कथित आगम वर्णित...मुझे स्व-स्वरूप (मैं) का परिज्ञान हुआ।
श्रद्धा-प्रज्ञा व अनुभव-तर्क से...मुझे मेरा शुद्ध/(आत्म) रूप ज्ञात हुआ।।
श्लोकः-

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयो पस्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।31(समाधितंत्र)

जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ...जो मैं हूँ वह ही परमात्मा।
अतएव मुझ से मेरे द्वारा मेरी...उपासना करना है परमार्थ।।(1)।।

समीक्षा-

परमात्मा है शुद्ध-बुद्ध-आनंद-अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य।
समता-शांति व निर्मल-निर्विकार...अनंत आत्मवैभव से पूर्ण।।
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध-शून्य व...चैतन्य चमत्कार से पूर्ण।
ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा से रहित...अक्षय अव्याबाध सुख परिपूर्ण।।(2)

संकल्प-विकल्प व संक्लेश रहित...टंकोत्कीर्ण ज्ञायक सहित।
आकर्षण-विकर्षण द्वंद्व रहित...निश्चल व निर्विकार सहित।।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि रहित...दबाव-प्रलोभनमय रहित।
समस्त मानवीय व सांसारिक दोषों से...वे पूर्णतः विरहित।।(3)

शत्रु-मित्र व अपना-पराया...समस्त भेदभाव विरहित।
तन-मन-इंद्रिय-क्षुधा-तृषा रहित...समस्त आधि-व्याधि रहित।।
ऐसे ही स्वरूप मेरा भी है...निश्चयनय से मुझे हुआ ज्ञात।
स्व-स्वरूप को प्राप्त करना ही...मेरा परम अंतिम लक्ष्य।।(4)

इस हेतु ही मैं साधना रत हूँ...द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सहित।

चतुर्थकाल व वज्रवृषभ संहनन...बिन स्व-शक्ति अनुसार साधना रत।।

गाथा-जं सक्कइ तं करइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।(22)-आ.कुंदकुंद

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
सद्दहमाणस्स जीव पावइ अजरामर ठाणं।।

पद्यानुवाद-

जो शक्य है वह (ही) करणीय...जो अशक्य है वह श्रद्धान करो।
केवली जिनेंद्र ने कहा है श्रद्धान करने से होता सम्यक्त्व।।(5)

जो शक्य है वह (ही) करणीय...जो अशक्य है वह श्रद्धान करो।
श्रद्धान करने वाले जीव ही...पाते हैं अजर-अमर स्थान।।

इस दर्पण से मैं मेरे गुण-दोषों...का करता हूँ अवलोकन।
गुण ग्रहण/(गुण वर्ध्दन) व दोष हरण हेतु...कर रहा हूँ यथायोग्य प्रयत्न।।(6)

सूत्र रूप में परमात्मा को जानने से...दोषदूर हेतु मिला परिज्ञान।
स्व-शुद्धात्मा के परिज्ञान से...गुणग्रहण/(गुण वर्धन) हेतु मिला परिज्ञान।।

करणाणुयोग से परिणामों को जाना...प्रथमानुयोग से उदाहरण।
चरणाणुयोग से आचरण जाना...द्रव्यानुयोग से स्व ज्ञान।।(7)

दर्शन-विज्ञान-गणित न्याय इतिहास...वर्तमान से भी शिक्षा मिली।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र द्वारा...स्वात्मा उपासान की शिक्षा मिली।।

स्व-शुद्ध स्वरूप सम मुझे समता...शांति व शुचिता को पाना है।
बाह्य दिखावा व आडम्बर परे...सरल-सहजता को पाना है।।(8)

रागी-द्वेषी-मोही-संकीर्ण-कट्टर पंथ...मतवादी से मुझे परे होना है।
समस्त विभाव से परे 'कनक'...शुद्ध-बुद्ध-आनंद पाना है।।(9)

8 मूलगुण व 12 व्रत युक्त श्रावक भी नहीं होता पूर्ण धार्मिक

(4 था गुणस्थान से धर्म प्रारंभ, 5 वाँ गुणस्थान में भद्रध्यान होता है, धर्मध्यान नहीं)

(चालः-आत्मशक्ति से ओतप्रोत...)

'वस्तु स्वरूप धर्म होने से', हर द्रव्य होता है धर्ममय।
'सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया' से, हर जीव भी होता धर्ममय।।
शुद्ध नय से यह कथन है, व्यवहार नय से भी जानना विधेय।
चौदहवें गुणस्थान से परे होते, शुद्ध जीव इससे पूर्व संसारी जीव।।(1)

परम सत्य स्वरूप षट् द्रव्य व, सप्त तत्त्व (व) नवपदार्थ का श्रद्धान।
देव-शास्द्ध-गुरु श्रद्धान सहित, स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान से होता सम्यक्त्व।।

गाथा-भयविसण मल विवज्जिय संसार-शरीर भोग णिव्विणो।
अट्ठगुणंग समग्गो दंसण सुद्धो हु पंचगुरु भत्तो।।(5)रयणसार

सप्तभय व्यसन रहित पच्चीस मलदोष रहित (होता) सम्यकृत्व।
संसार-शरीर भोग विरक्त अष्टगुण, अंग युक्त पंचगुरुभक्ति सहित।।(2)

गाथा-जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्क समयम्मि जीवो विरयाविरत्ति जिणु कहई।।(351, भावसंग्रह)

जो त्रसवध से विरक्त न विरक्त होता है स्थावरवध से।
वह होता है विरताविरति, श्रावक ऐसा कहा जिनदेवने।
पंचाणुव्रत सहित बारहव्रत से सहित होता श्रावक।
तथापि आरंभ-परिग्रह युक्त आर्त-रौद्र ध्यान संयुक्त।।(3)

अतएव ऐसा श्रावक को भी, न होता है पूर्ण धर्म ध्यान।
पाप दूर करने हेतु करता, दानपूजादि भद्रध्यान।।
देव-पूजा-गुरु-पास्ति स्वाध्याय, संयम तप व दान।
प्रत्येक दिन करता है श्रावक, स्व-पाप दूर निमित्त।।(4)

तथापि प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय से सहित।
नव नो कषाय से सहित अतएव, न होता पूर्णधर्मध्यान।।
आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञा, सहित करता विभिन्न काम।
व्यापार-कृषि-पढ़ाई-नौकरी, औद्यगिक आदि पापात्मक काम।।(5)
भोगोपभोग व यानवाहन व, खान फेक्ट्री के करते काम।
जिससे त्रस-स्थावर जीव मरते, होते विविध पर्यावरण दूषण।।
इससे भी विभिन्न समस्यायें होती, ग्लोबलवर्मिंग व रोग।
अतिवृष्टि व अनावृष्टि भूकम्प, से लेकर सुनामि तक।।(6)
अतएव ही दो कल्याणक युक्त, पंचमगुणस्थावर्ती तीर्थंकर।
अंतरंग-बहिरंग परिग्रह त्यागकर, बनते धर्म हेतु मुनीश्वर।।
भोगोपभोग व आरंभ-परिग्रह युक्त तीर्थंकर भी होते पूर्णधर्मात्मा।
किंतु बहिरंग से ही जो धर्म पालते, वे कैसे होंगे पूर्ण धर्मात्मा?।।(7)
कदाचित गधे के भी सींग होना, संभव है तीन काल में।
किंतु गृहस्थों (श्रावकों) के श्रेष्ठ/(शुद्ध) ध्यान, नहीं संभव कहा आचार्यों ने।।
यह वर्णन करणानुयोग सम्मत, जो है परम यथार्थ।
परम यथार्थ के परिज्ञान हेतु, ''सूरी कनक'' ने बनाया काव्य।।(8)

धर्मध्यानः द्रव्य-तत्त्व-पदार्थों का चिंतन

(उत्तम क्षमादि दश धर्म, पंचपरमेष्ठी, आत्मचिंतन, आज्ञा-अपाय-उपाय-संस्थान का चिंतन व श्रावक मुनि धर्म चिंतन पालनः धर्मध्यान)

(चालः-तुम दिल की धड़कन...सायोनारा...)
आत्मविश्वास ज्ञान-चारित्र युक्त होता है धर्मध्यान।
आर्त-रौद्र रिक्त भद्रध्यान से परे होता है धर्मध्यान।।
प्रमुख रूप में अप्रमत्त गुणस्थान से होता है धर्मध्यान।
उपचार रूप से छठे व पाँचवें गुणस्थान से होता है धर्मध्यान।।(1)

आज्ञा-अपाय व उपाय संस्थान विचय होता है धर्मध्यान।
श्रावक-मुनिधर्म पालनमय व उत्तमक्षमादि दश भी धर्मध्यान।।
सर्वज्ञ आज्ञा को सत्य मानकर, द्रव्य तत्त्व व पदार्थों का।
ख्याति-पूजा-लाभ-भोग से रहित चिंतन है आज्ञाविचय धर्मध्यान।।(2)
अशुभ नाश हेतु व शुभ (पुण्य) प्राप्ति हेतु होता चिंतन (जो) सतत।
वह है उपाय विचय धर्मध्यान जो होता है सकारात्मक (भाव)।।
शुभ अशुभ कर्मोदय से जीव पाते हैं सुख व दुःख।
ऐसा चिंतन करने से होता है विपाक विचय धर्मध्यान।।(3)
विश्व में स्थित समस्त द्रव्य व उसके आहार-प्रकार।
उनके गुण व पर्यायों का चिंतन होता (है) संस्थान विचय।।
उत्तम क्षमादि दशविध धर्म व पंचपरमेष्ठीओं का चिंतन।
स्व-स्व गुणस्थान योग्य धर्म पालन भी होता है धर्मध्यान।।(4)
इन सबका केन्द्र या लक्ष्य होता है स्व-आत्म चिंतन।
आत्म संशोधन व आत्म उपलब्धि हेतु होता है धर्मध्यान।।
आत्मकेन्द्रित व आत्मलक्ष्यादि बिन धर्मध्यान न संभव।
वस्तु स्वभाव धर्म होने से स्व-शुद्धात्मा प्राप्ति ही प्रमुख।।(5)
अन्यथा सभी धार्मिक क्रियायें हो जाती हैं ढ़ोंग-पाखण्ड।
ख्याति-पूजा-लाभ-भोगोपभोग व वर्चस्व हेतु समर्पित।।
ऐसा धर्म तो महाअनर्थ है जो अधर्म-कुधर्म-विधर्म।
प्यास मिटाने हेतु पानीय सेवनीय नहीं विष सेवनीय।।(6)
स्व-पर विश्वहित चिंतन (तथा) करना मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ।
दयादान-सेवा-परोपकार करना उत्तम चिंतन सभी (है) धर्मध्यान।।
ध्यान-अध्ययन व शोध-बोध करना (व) उसका लेखन व प्रकाशन।
नवकोटि से शुभ भाव करना 'कनक' माने ऐसे धर्मध्यान।।(7)

मेरे लक्ष्यानुसार शिक्षा व साधना हेतु- ध्यान मेरे लिए परम कर्त्तव्य(आत्मध्यानी मुनि ही यथार्थ से धर्मध्यानी)

(चतुर्थ गुणस्थानवर्ती-श्रावक छट्ठा गुणस्थानवर्ती मुनि भी उपचार से धर्मध्यानी)

- आचार्य कनकन्दी

(चाल : आत्मशक्ति....)

आत्मध्यानी मुनि होते हैं धर्मध्यानी, जो राग-द्वेष-मोह से रहित हैं।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश रहित, जो होते ख्याति-पूजा-लाभ रहित।।
गाथा-मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं।।(371) भाव संग्रह
उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-सहित/(परिणत)
आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य परिणत मुनि होते हैं धर्मध्यान युक्त।।(1)
गाथा-दहलक्खणसंजुत्तो अहवा धम्मोत्ति वण्णिओ सुत्ते।
चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्ति।।(372)
वस्तु स्वभाव धर्म होने से तथा, सभी वस्तुओ में स्वआत्मा मुख्य।
अतएव स्वशुद्धात्मा ध्यान रत मुनि, होते यथार्थ से धर्मध्यान युक्त।।
ऐसे ध्यानी मुनि को होता है, निरालम्बध्यान जो आत्मा के आश्रित।
स्व-आत्मा में/(से) स्व-आत्मा द्वारा, स्व-आत्मा का होता ध्यान है।।(2)
गाथा- जं पुणु वि णिरालंवं तं झाणं गयपमाय गुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरुवस्स।।(381)
संकल्प-विकल्प सहित मुनिओं को भी, नहीं होता है यह धर्मध्यान।
इस ध्यान के साधन हेतु, व्रत-नियम-भावना-चिंतन-ज्ञान।।
गाथा- जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाण जुत्तस्स।
ताम ण सुण्णझाणं चिंता वा भावणा अहवा।।(83) आ.सा.
ऐसे ध्यानी मुनि होते हैं श्रेष्ठ जो नहीं करते संकल्प-विकल्प।

श्रावक से ले छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि से भी वे होते श्रेष्ठ-ज्येष्ठ।।(3)
अठावीस मूलगुण पालनरत जो, मुनि अभी नहीं है ध्यानरत।
उनसे भी अधिक श्रेष्ठ-ज्येष्ठ है, जो स्व-शुद्धात्म ध्यान रत।।
पंचपरमेष्ठीयों के वन्दन पूजन, आराधना जाप से भी (यह) ध्यान श्रैष्ठ।
वन्दन आदि स्वालम्ब ध्यान है जो निरालम्ब ध्यान हेतु निमित्त।।(4)
गाथा-तुं फुडु दुविहं भणियं सालंवं तह पुणो अणालंवं।
सालंवें पंचण्हं परमेट्ठीणं सरूवं तु।।(374)
राग-द्वेष-मोह व संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्याग से होता धर्मध्यान।
एकाग्रता से जो मुनि चिन्तन करते वह होता है धर्मध्यान।।
गाथा-मरा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए।।(48) द्र.सं.
जंकिंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धू णय एयत्तं तदा हुतं तस्स णिच्छयं झाणं।।(55)
मा चिट्ठह मा जंपह-मा चिंतह किं वि जेण होई थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।(56)
इससे मुझे श्रेष्ठ शिक्षा मिले, मैं करुँ सदा सर्वश्रेष्ठ साधना।
संकल्प-विकल्प व संक्लेश जनक, त्यागूँ मैं समस्त विडम्बना।।(5)
जिसभी कारण से राग-द्वेष-मोह, ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा होते उत्पन्न।
उन सभी कारणों को त्यागूँ जिससे/(मैं) होती ख्याति-पूजा-लाभ भावना/(तमन्ना)।।
यह सब मैंने जैन-हिन्दू-बौद्ध-ग्रन्थों में, पढ़ा तथाहि आधुनिक विज्ञान में।
बाल्यकाल से मेरा यह अनुभव बढ़ रहा, 'कनक' अतः दृढ़ स्व-लक्ष्य में।।(6)

समता परमो धर्मः (समता में समस्त आध्यात्मिक धर्म गर्भित है!)

(समता बिन सभी धर्म अधर्म/(कुधर्म))

(चाल : आत्मशक्ति....)

मोक्ष-क्षोभ से रहित होने से होती है समता परम।

सभी तीर्थंकरों ने ऐसा ही कहा/(किया) यह ही परम धर्म।
मोह के कारण न होती है, जीवों का सही श्रद्धान।
अंधश्रद्धान से जो होता ज्ञान वह होता मिथ्याज्ञान।।(1)
क्रोध-मान-माया-लोभ-कामादि से, होता है क्षोभ उत्पन्न।
जिससे जीवों में होता है संक्लेश, जिससे भाव मलीन।
मोह-क्षोभ के ही अनेक भेद है, ईर्ष्या-तृष्णा व घृणा।।
पंचपाप-सप्त व्यसन अष्टमद, व सप्तभय अशुभ लेश्या।।(2)
इन सब कारणों से ही होता है, आकर्षण व विकर्षण।
अपना-पराया भेद-भाव व ऊँच-नीच पक्षपात-विषम।
संकल्प-विकल्प व द्वंद्व के कारण, भाव होता है अस्थिर।।
जिससे श्रद्धा-प्रज्ञा भी दूषित, लक्ष्य न होता सुस्थिर।।(3)
जिससे निर्णय न सही होता, साधना न होती सम्यक्।
समता-शांति व शुचिता बिन, सभी साधना असम्यक्।।
समता में ही गर्भित होते हैं, रत्नत्रय व दशधा धर्म।
द्वादश अनुप्रेक्षा व तप, सोलहकारण (भावना) षटावश्यकर्म।।(4)
तीन ज्ञानधारी दो कल्याणक युक्त, पंचमगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर।
इस परम समता को प्राप्त न कर पाते, जब तक न बनते मुनीश्वर।
इस परम समता हेतु ही वे त्याग करते हैं दोनों परिग्रह।
मनःपर्यय व चौषठ ऋद्धि धारी, होकर (भी) करते मौन-ध्यान।।(5)
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि रहित, करते समता की साधना।
परोपदेश व वर्चस्व रहित, करते वे आत्मा की प्रभावना।
आदेश-निर्देश व पर निन्दा, अपमान रहित (हो) करते साधना।
मान-अपमान व शत्रुता-मित्रता, परे करते समता की साधना।।(6)
मुनि अवस्था में धर्म प्रभावना, हेतु भी न करते कोई काम।
मंदिर-मूर्ति-धर्मशाला निर्माण, शिक्षा-दीक्षादि काम।।
समता हेतु ही साधना करते, जिससे बढ़ती जाती आत्मविशुद्धि।
जिससे अनंत चतुष्टय प्राप्ति से, खिरती है दिव्यध्वनि।।(7)

शतइंद्र से सेवित होकर भी, रहते न परम समता धारी।
समवशरण के भौतिक वैभव से भी रहते वे अविकारी।।
अंत में वे सिद्ध बनते तब भी होते परमसाम्यधारी।
ऐसी परम समता प्राप्ति के हेतु ही साधनारत 'कनक' सूरी।।(8)

सातिशय पुण्य से पाप दूर व मोक्ष प्राप्ति
(परम सकरात्मकता)

(अशुभ (पाप) से परे शुभ (पुण्य) व दोनों परे शुद्ध (मोक्ष)

- आचार्य कनकन्दी

(चाल : दुनिया में रहना है तो.....क्या मिलिए...)
पुण्य करो हे! पुण्य करो, पुण्य के बिना न पाप दूर।
प्रकाश बिना व तम दूर, शुभ बिना व अशुभ दूर।।
अशुभ-शुभ व शुद्ध भाव, जीवों के होते तीनों भाव।
एक समय में होते एक भाव, पंचम (काल) में अशुभ-शुभ भाव।।(1)
शुभ न करो तो अशुभ होगा, संसार मे केवल दुःख होगा।
अन्याय-अत्याचार-पापाचार होंगे, शोषण से युद्ध तक होंगे।।
इससे परे करो हे! शुभ भाव, श्रद्धा-प्रज्ञा युक्त सदाचार।
देव शास्त्र गुरु के समादार, दया-दान-सेवा व परोपकार।।(2)
हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील त्याग, परिग्रह प्रति मोह ममत्व त्याग।
सप्त व्यसन व सप्त मद त्याग, सादाजीवन व उच्चभाव कर।।
सभी जीव प्रति मैत्री भाव धर, किसे भी दुःख न हो भाव करो।
गुणी जीव के प्रति प्रमोद भाव कर, गुण-गुणी का समादर करो।।(3)
दुःखी जीव प्रति कृपा कर, दयादान-सेवा व रक्षा करो।
विपरीत वृत्ति से साम्य धर, राग-द्वेष-मोह (व) द्रोह नहीं करो।।
निस्वार्थ भाव से ये सभी करो, ख्याति-पूजा-लाभ से रहो दूर।
ईर्ष्या-घृणा से रहो दूर, प्रतिस्पर्द्धा व वर्चस्व नहीं कर।।(4)
इससे होगा सातिशय पुण्य कर्म, पाप-ताप-तनाव होंगे दूर।

संकल्प-विकल्प-संक्लेश होंगे दूर, आनन्द उत्सव होंगे भरपूर।
संतुष्टि-शांति-तृप्ति होगी, स्वयमेव प्रशंसा व कीर्ति होगी।
आत्मगौरव व उत्साह में वृद्धि, संवेग-वैराग्य में होगी वृद्धि।।(5)
जिससे शुभ भाव में होगी वृद्धि, साधु बन करो आत्मशुद्धि।
जिससे आध्यात्मिक शक्ति बढ़ेगी, पाप-पुण्य नाश से मुक्ति मिलेगी।।
यह है आध्यात्मिक सार तत्त्व, अज्ञानी मोही (स्वार्थी) से अज्ञात सत्य।
भौतिकवाद परे परम सत्य, 'कनक' का लक्ष्य स्व-आत्म तत्त्व।।(6)

उत्साहपूर्वक करते हैं पाप

(अज्ञानी मोही कामी अब्रह्म पाप को नव कोटि से उत्साह से करते हैं)

(चाल : आत्मशक्ति....)

अज्ञानी मोही कामासक्त जीव, नहीं जानते हैं हित-अहित/(धर्म-अधर्म, पुण्य/पाप)
हित को अहित अहित को हित, मानकर करते अधिक पाप।।(ध्रु)
सच्चिदानंद है जीवों का धर्म, जो राग-द्वेष काम रहित।
पंच पाप व सप्त व्यसन रहित, उत्तम क्षमादि दश धर्म युक्त।।
किन्तु अज्ञान मोह के कारण, मद्यपी से भी अनंतगुण मोहित।
पंच पाप सप्त व्यसन सेवते, क्रोध-मान-माया-लोभ सहित।।(1)
यथा हिंसा-झूठ-चोरी होते पाप, तथाहि परिग्रह (व) अब्रह्म।
क्रोध-मान-माया-लोभ भी पाप है, नवकोटि से ये होते सर्जन।।
पंचाणुव्रत व बारह व्रत युक्त, भी करते हैं पापकर्म।
किन्तु जो उक्त व्रतों से रहित, वे करते घोरातिघोर पापकर्म।।(2)
उक्त गुण युक्त भी जो श्रावक करते, विवाह नवकोटि से।
वे भी उपार्जित करते हैं पाप, ऐसा कथन है जिनागम में।।
हिंसा-झूठ-चोरी को ये यथा न, मानना चाहिए उत्सव सह।
तथाहि अब्रह्म व परिग्रह को नहीं, मानना चाहिए उत्सव सह।।(3)
सदार संतोषव्रत में भी एक बार, अब्रह्मचर्य सेवन से।

नौ लाख मनुष्य पंचेन्द्रिय लब्ध पर्याप्तक (जीव) मरते हैं लिखा।
आधुनिक विज्ञान ने भी करोड़ों, जीव मरते सिद्ध किया।।(4)
यह तो हुई एक बार की द्रव्य हिंसा, सम्पूर्ण मैथुनों का करो गणित।
उक्त द्रव्य हिंसा के साथ-साथ भाव हिंसा, होती उससे अधिक।।
परस्पर के राग व द्वेष ईर्ष्या घृणा व वैर विरोध।
कलह-विसंवाद व तलाक से लेकर, दहेज हत्या तक।।(5)
तथापि ऐसे अब्रह्म पाप को, उत्साह पूर्वक करते विवाह।
ढोंग पाखण्ड व आडम्बर सहित, करते इसका निर्वाह।
इसका मनाते पुनः हॅनीमून व, गिफ्ट भी देते परस्पर।
साल गिराह भी मनाते रहते, पापों का करते सत्कार।।(6)
इससे भी परे और भी विकृतियाँ, होती है अब्रह्म पाप में।
परस्त्री गमन-वेश्या मरण, यौन शोषण आदि पाप से।।
अब्रह्म से होती जनसंख्या वृद्धि, जिससे उत्पन्न होती समस्याएँ।
खाद्याभाव व कुपोषण, प्रकृति शोषण से लेकर प्रदूषण।।(7)
सामाजिक मान्यता के कारण, विवाह-भोग को मिली सम्मति।
अधिकतर जन इस पाप को, पाप रूप में न जानते/(मानते) कुमति।।
उत्कृष्ट ज्ञान वैराग्य सम्पन्न, महान्जन इसे जान/(मान) पाते।
नवकोटि से इस पाप से निवृत्त होकर, आत्मसाधना से सुख पाते।।(8)
यह है भारत की महान् आध्यात्मिक, संस्कृति जिससे बनते भगवान्।
इन सब गुण-दोषों को जानकर, 'कनक' बना बालब्रह्म श्रमण।।
पुण्यस्थ फलमिच्छति पुण्य न कुर्वन्ति मानवाः।
पापस्थ फलंनेच्छति पाप कुर्वन्ति यत्नतः।।(9)
पुण्य का फल सुख चाहते हैं, किन्तु न करते पुण्य मानव।
पाप का फल दुःख न चाहते, किन्तु पाप करते यत्नतः।।
श्रावकों को भी जो होता है पापार्जन उसे दूर करने हेतु भी।
दया-दान-सेवा-पूजादि करना विधेय सातिशय पूण्यर्जन भी।।(10)

सज्जन व दुर्जन की प्रवृत्ति

सत्य-असत्य-हित-अहितकर परिज्ञान नहीं होने के कारण

(चाल : छोटी-छोटी गैया....)

अज्ञान मोह व स्वार्थ के कारण, जीव न जानते हैं सत्य-असत्य।
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-मद के कारण से, नहीं जानते हैं हित-अहित।।
जिससे वे स्व दोषों को न जानते, अतएव दोषों को न दूर करते।
अन्य के गुणों को भी दोष मानकर, उनकी निन्दा व वैर करते।।(1)
दुष्ट कमठ व स्व दोष को जाना, पार्श्वनाथ भगवान् को दोषी माना।
उनके ऊपर उपसर्ग किया, तथापि पार्श्व ने क्षमा धारण किया।।
सुकरात को भी दोषी मानकर, विष पिलाकर उन्हें मारा।
ईसा मसीह को लेकर मीराबाई तक से, ऐसा ही दुर्व्यवहार हुआ।।(2)
तो भी महान्-सज्जन-संत, समता-शांति को नहीं त्यागते।
स्व-पर विश्व-कल्याण हेतु मैत्री, प्रमोद-कारुण्य माध्यस्थ भाव रखते।।
इससे अनेक दुष्ट जीव भी, स्व-दोष त्यागकर पावन बनते।
महान् जनों से वैरत्व त्यागकर, उनके भक्त व अनुयायी बनते।।(3)
पार्श्वनाथ की क्षमा के कारण, पार्श्वनाथ बन गये शुद्ध-बुद्ध।
उनकी प्रतिमा व महिमा अभी तक, जगत् में हो रही प्रसिद्ध।।
ईसा मसीह के क्षमा के कारण, उनके अनुयायी सबसे अधिक।
ऐसा ही सुकरात से लेकर, मीराबाई की प्रसिद्धि है अभी तक।।(4)
रत्नाकर डाकू बना वाल्मीकि अंगुलीमाल बना बुद्ध भक्त।
उपसर्ग स्थान भी बन गये, पावन क्षेत्र जिसको पूजते भक्त।।
घर्षण से होती अग्नि उत्पत्ति, घानी से पीलने से निकलता तेल।
ताप-ताडन से सोना बनता कुंदर, मक्खन से तथाहि घृत।।(5)
अंधेरे से दीपक बुझता नहीं, अंधेरा से दीपक नहीं डरता।
अंधेरा को ही दीपक दूर करके, प्रकाश को दूर तक फैलाता।।

अनादिकालीन कर्म संस्कार से, जीवों की होती है विपरीत प्रवृत्ति।
इसे दूर हेतु चाहिए उत्तमगुरु, तथाहि जिज्ञासु व विनम्र वृत्ति।।(6)
अध्ययन-मनन-चिंतन-ध्यान से, आत्मा को करना होगा पावन।
पावन आत्मा ही सत्य व हित जानकर, असत्य-अहित करे परिमार्जन।
अन्यथा अन्धे यथा न देख पाते सूर्य, तथाहि मोहान्धों की दशा।।
मोहांध दूर हेतु 'कनकनन्दी' ने, दया से द्रवित हो इस काव्य को रचा।।(7)

सरल (शुद्ध) होना सहज व कुटिल (अशुद्ध) होना विषम/(जटिल)

(चाल : आत्मशक्ति....)

सरल-सहज होते हैं शुद्ध द्रव्य, जो मौलिक व स्वतंत्र हैं।
इससे विपरीत होते अशुद्ध द्रव्य, जो बन्ध से विकृत हैं।।
'वस्तु स्वभाव धर्म' होने से, स्वभावमय होता परमधर्म।
स्वस्वभावमय द्रव्य से (शुद्धद्रव्य) हर द्रव्य ही स्वयं का स्वयं धर्म।।(1)
(यथा) आकाश (व)-काल-व धर्म-अधर्म, शाश्वतिक होते शुद्ध द्रव्य।
स्व-स्व धर्म/(स्वभाव) में स्थित होने से, उनमें न होता विकार।
शुद्ध जीव व शुद्ध परमाणु (भी) होते स्व-स्व धर्म में स्थित।
अशुद्ध जीव व अशुद्ध पुद्गल, बन्ध अवस्था में अतः विकृत।।(2)
गाथा-एयत्त णिच्छयगओ, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बन्ध कहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होई।।(3 समयसार)
दो में होता है बन्ध व द्वन्द्व, एक में ही न होता बन्ध-द्वन्द्व।
आकर्षण-विकर्षण संयोग-वियोग, युगल में होते संभव।।(3)
तथाहि मैथुन (व) मंथन घर्षण-ताडन व ऊँच-नीच।
छोटा-बड़ा व अपना-पराया, ये सब में होते द्वन्द्व बन्ध।
एक सिद्ध में होते अनेक सिद्ध समाहित, तथापि उनमें नहीं द्वन्द्व न बन्ध।
आकार-काल आदि भिन्न होने पर भी, शुद्ध होने से नहीं होता द्वन्द्व।।(4)

समानान्तर सरल रेखाएँ अनन्त, दूरी तक भी न काटते परस्पर।
किन्तु वक्र रेखायें (अनेक) अनन्त बार तक, काट सकती है परस्पर।
अनन्त सर्वज्ञों के अनन्त गुण भी, होते हैं परस्पर एक समान।
किन्तु एक ही अज्ञानी-मोही के भाव में, होते अनन्त-असमान/(विषम)।।(5)

भोग भूमिज भद्र परिणामी (सरल) अनेक पशु-पक्षी व मानव।
कभी न करते कलह (युद्ध) दीर्घकाल तक, रहते वे सभी निर्द्वन्द्व।
द्रव्य स्वभाव सहज होने से जो जितना होता जाता है सहज/(शुद्ध)।
उनमें उतनी सरलता आती जाती, उतने अंश में न होते द्वन्द्व।।(6)

विश्व के हर द्रव्य व जीव में, यह सभी होते हैं संभव।
शुद्धता में ही है सहजता तथा, सहजता में ही है सरलता।
सत्य ही होता है शिव व शिव ही होता है मंगल।
सत्य-शिव-सुन्दर बनने हेतु, 'कनक' करे सदा प्रयत्न।।(7)

आत्मविकास हेतु मुझे करणीय व अकरणीय

- आचार्य कनकन्दी

(चाल : यमुना किनारे श्याम...., सायोनारा...)

आत्मविकास हेतु (मैं) करुँ आत्मविश्वास,
मुझमें अनन्त गुण गण निवास,
स्वगुण प्राप्ति हेतु मैं करुँ पुरुषार्थ,
आत्म विश्वास ज्ञान चारित्र युक्त।।(1)

आत्मविश्वास नहीं है भौतिक विकास।
सत्ता-सम्पत्ति व प्रसिद्धि प्राप्त।
इससे परे होता है आत्मिक विकास,
सच्चिदानन्द बनना आत्मविकास।।(2)

इस हेतु त्याग करूँ रागद्वेषमोह,
ईर्ष्या तृष्णा घृणा व वैर-विरोध।

दिखावा-आडम्बर दीन-हीन-दंभ,
सम्पूर्ण संकीर्णता व विभ्रम भय।।(3)

अपना-पराया व शत्रु-मित्र भाव,
संकल्प-विकल्प व संक्लेश भाव।
आकर्षण-विकर्षण द्वन्द्व-विषम
त्याग करुँ सभी विभाव भाव।।(4)

ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व त्याग,
दबाव-प्रलोभन व कामना काम।
सरल-सहजता सह करूँ पावन भाव
सत्य-समता युक्त शान्ति स्वभाव।।(5)

इस हेतु चाहिए तन-मन भी स्वस्थ्य,
उत्तम द्रव्य क्षेत्र काल सहित,
संकीर्ण पंथ-मत परे करूँ साधना
शक्ति के अनुसार बाह्य तप साधना।।(6)

भीड़-प्रदर्शन व धन-मान से परे,
भौतिक निर्माण व प्रपगंडा परे।
आत्मविशुद्धि से आत्म विकास करूँ,
स्वावलम्बन अनुशासन पालन करूँ ।।(7)

आत्मानुभव से आत्म गौरव करूँ
'स्वाभिमान' 'सोहं' 'अहं' भावों को धरूँ,
निर्द्वन्द्व-निराकुलता हेतु विकास करूँ,
स्व-आत्मिक मूल्यांकन स्वयं मैं करूँ ।।(8)

रागी द्वेषी मोही स्वार्थी से (दूर) साम्य रहूँ,
इनके अनुसार, भाव-व्यवहार नहीं करूँ।
निस्पृह-निराडम्बर से ज्ञान-ध्यान करूँ,
'कनक' शुद्ध-बुद्ध-आनन्द बनूँ।।(9)

थॉट मैनेजमेंट : दिमाग जो देता है, शरीर ग्रहण करता है

शरीर और सेहत पर गहरा असर डालते हैं विचार

शोध बताते हैं कि दिमाग ही है जो शरीर को ठीक करता है। इसे प्लेसेबो इफेक्ट कहा जाता है। कई बार मरीज को डॉक्टर दवाई देने की बजाय शकर की गोलियां खिला देते हैं तो भी वे बेहतर महसूस करने लगते हैं। ऐसा इसलिए कि विचार और भावनाएँ शरीर पर गहरा असर करते हैं। शरीर दिमाग की ही सुनता है। दिमाग जो देता है, उसे शरीर तुरन्त ग्रहण कर लेता है। दिमाग में से मलीन विचारों के निकलते ही शरीर तेजी से बीमारी और पतन की तरफ बढ़ने लगता है।

वहीं खूबसूरत और संतोषजनक विचारों के बल पर शरीर भी खूबसूरत और ज्यादा जवाँ दिखता है। देखा जाए तो डर भी एक विचार ही है जो तेजी से शरीर को खत्म करता है। जो बीमारी के डर में जीते हैं वे बीमार हो जाते हैं। इसी तरह चिंता भी बहुत तेजी से शरीर खराब करती है और बीमारियों को अन्दर प्रवेश करने देती है। मलीन विचार को सीधे नर्वस सिस्टम पर आक्रमण करते हैं।

शोध बताते हैं कि मजबूत और स्वच्छ विचार शरीर को लगाकर ताकत देते हैं। शोध ये भी सिद्ध करते हैं कि तनाव की वजह से भी पेट खराब होता है और डिप्रेशन फिजिकल चोट पहुँचाता है। मेंटल साइलेंस या मेडिटेशन यहीं पर फायदा करता है। जब हमारा दिमाग कई तरह के विचारों के उत्पन्न होने से थक जाता है तो 'मेंटल साईलेंस सर्किट' ब्रेकर का काम करता है। 'मेंटल साइलेंस' दरअसल दिमाग के लिए एक तरह का टाइम-आउट है। जब सकारात्मक विचार काम नहीं कर रहे हों तब नॉन-थिंकिंग मोड में जाना सबसे अच्छा होता है।

सरल-सादा होने से मुझे प्राप्त लाभ

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आत्मशक्ति....)

कोई जाने या न जाने, मैं रहूँ सरल-सीधा /(सादा)

कोई माने या न माने, मैं बनूँ आत्मवेत्ता।
मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता, मैं ही बनूँ विधाता...
यह ही मेरा साधन, यह ही मेरी साधना।।(1)

मुझ में ही मेरे द्वारा, स्वहित हेतु करूँ ,
सरल-सहज भाव समता-शान्ति करूँ /(धरूँ)
पर प्रपंच आडम्बर-ढोंग-पाखण्ड छोडूँ,
दबाव-प्रलोभन भय व वर्चस्व त्यागूँ।।(2)

परावलम्बन व पर प्रतीक्षा व आशा त्यागूँ,
उपेक्षा भी न करूँ , अपेक्षा भी मैं त्यागूँ।
प्रशंसा हेतु न करूँ प्रशंसनीय ही करूँ ,
परनिन्दा को मैं त्यागूँ, निन्दनीय भी न बनूँ/(करूँ)।।(3)

अज्ञानी व मोही स्व-दोष गुण भी न जानते/(मानते)
पर को जानते हेतु, प्रयत्न भी वे करते।
वृक्ष में भी होता है, यथा प्रकाश-खाद ज्ञान,
दोषी (व्यक्ति) में भी होता है, अन्य के दोष गुण ज्ञान।।(4)

सरल-सहज से स्वयं को ही लाभ होते,
तनाव-दुश्चिन्ता-भय, संक्लेश-द्वन्द्व न होते,
दूसरों के ऊपर भी, प्रभाव उत्तम भी होता,
बिना उपदेश से भी, परिवर्तन शुभ होता।।(5)

स्वभाव मार्दव से मिथ्यादृष्टि भी स्वर्ग में जाता।
स्वभाव मार्दव से सुदृष्टि मोक्ष तक भी पाता।
स्वभाव मार्दव से भोगभूमिज भी सुख पाते,
मनुष्य से सिंह तक, निर्द्वन्द्व से जीवन जीते।।(6)

सरल-सहज से तन-मन भी हल्के होते,
श्रेष्ठ व क्लिष्ठ काम भी सहजता से हो जाते,
भक्त-शिष्य बनकर, अन्य भी सेवादान करते।
'कनक' निराकुल हो आत्मसाधना में ही रत रहते।।(7)

निस्पृह सन्त की साधना V/s मोही सन्त की प्रभावना

(अनन्त तीर्थंकर आदि साधु अवस्था में भौतिक निर्माण क्यों नहीं करते?)

(चाल : आत्मशक्ति....)

अभी तक हो गये अनन्त तीर्थंकर-गणधर आचार्य-पाठक साधु।
गौतम बुद्ध व वैदिक ऋषि ईसा व रामकृष्ण से कृष्णमूर्ति।।
गृहस्थ अवस्था में इनमें अधिकतर थे राजा से लेकर साहुकार तक।
गृहस्थ अवस्था के समस्त वैभव त्यागकर बन गये वे निस्पृह संत।।(1)
गृहस्थ अवस्था में भले वे निर्माण किये हो मन्दिर व धर्मशालादि।
किन्तु साधु बनने के अनन्तर नहीं बनाये क्यों मन्दिर धर्मशालादि?
वे तो थे अधिक दयालु परोपकारी साधु बनने से और अधिक।
तथापि क्यों नहीं किया भौतिक निर्माण इसका समाधान है निम्नोक्त।।(2)
गृहस्थ में नहीं थे पूर्ण त्यागी किन्तु पूर्ण त्याग से बने सन्यासी।
त्यागे हुए को नहीं ग्रहण करते जो यथार्थ से होते निस्पृह सन्यासी।।
भौतिक त्याग सह होता राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि विभाव त्याग।
ख्याति-पूजा-लाभ व याचना-संग्रह, दबाव-प्रलोभन व संक्लेश-द्वन्द्व।।(3)
आरम्भ-परिग्रह व आदेश निर्देश आकर्षण-विकर्षणमय भौतिक काम।
भौतिक विनिमय रूप समस्त काम नौकर से यान-वाहन काम।।
इन सबसे होती द्रव्य-भाव हिंसा तथाहि विविध प्रदूषण।
जिससे न होती आत्मविशुद्धि समता-शान्ति से ध्यान-अध्ययन।।(4)
इन सब कारणों से वे न रहेंगे सही साधु हो जायेंगे वे गृहस्थ सम।
इससे उनका होगा आत्मपतन वे न रहेंगे गृहस्थ व साधु-श्रमण।।
ऐसी अवस्था में वे हो जायेंगे उभय भ्रष्ट त्रिशंकु समान होगी अवस्था।
'माया मिली न राम' अनुसार इह पर लोक में भारी दुर्दशा।।(5)
ऐसे जो होते निस्पृह साधक उनके अनुयायी ही बनते अधिक।
वे स्वेच्छा से प्रेरित होकर दान-दया-सेवा-परोपकार त्याग।।

इससे विपरीत जो काम करते उनसे न होता स्व-पर-उपकार।
वे स्वयं संक्लेशित होते उनको मिलता अपमान से कारागार।।(6)
किन्तु जो होते रागी-द्वेषी-मोही (स्वार्थी) वे ये सभी करते रहते।
'लोभी गुरु लालची चेला' हुए नरक में ठेलमठेला' रूप से दुःख सहते।।
श्रद्धा-प्रज्ञा व निस्वार्थी जन ऐसे साधु से दूर रहते।
अन्धश्रद्धालु व स्वार्थी जन ऐसे साधु से स्व-स्वार्थ साधते।।(7)
ऐसे साधु व अनुयायी से परम पावन धर्म होता है कलंकित।
इसलिए तो 'सूरी कनकनन्दी' ऐसे कार्यो से रहते विरक्त।।(8)

बोधपाहुड (आ. कुन्दकुन्द) के आधार पर-

मैं मेरे निश्चय से परमतीर्थ आदि हूँ

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : कस्में-वादे....)

मैं ही मेरा परम तीर्थ हूँ...संसार तारक मेरा मैं हूँऽऽऽ
अन्यतीर्थ व्यवहार हैं मेरे...निमित्त-नैमित्तिक होने सेऽऽऽ(ध्रुव)
रत्नत्रय मेरा परम तीर्थ....इससे होगा मेरा भवपारऽऽऽ
रत्नत्रय से अभिन्न मैं हूँ....अतः मेरा मैं परम तीर्थऽऽऽ
रत्नत्रय आधार होने से...मैं ही मेरा आयतन हूँऽऽऽ
मेरे आधीन मेरी कषाय से है आयतन हूँ यम पालने सेऽऽऽ(1)
मैं ही मेरा चैतन्य हूँ...अतः मैं मेरा चैत्यगृहऽऽऽ
सभी जीवों को मानूँ चैतन्यमय...अतः मैं हूँ मेरा चैत्यगृहऽऽऽ
उक्त गुण युक्त जंगम देह मम...निश्चय से चलप्रतिमामयऽऽऽ
अन्य श्रमण भी चल प्रतिमा....सिद्ध में बनूँगा स्थिर प्रतिमाऽऽऽ(2)
स्व-पर प्रकाशी उक्त गुणों से...अतएव मैं दर्शनमय हूँऽऽऽ
दीक्षा-शिक्षा दाता होने से...जिनबिम्ब स्वरूप मैं हूँऽऽऽ
यह ही मेरी जिनमुद्रा है....इसके परिज्ञान से ज्ञानी हूँऽऽऽ
स्व-पर हितार्थ ज्ञानदान से...देव स्वरूप भी मैं हूँऽऽऽ(3)

भव्य ही होते भावी भगवान्...श्रमण होते भावी भगवान्ऽऽऽ
अभी आचार्य भावी भगवान्...ऐसा ध्यान/(ज्ञान) मम अरिहंत ज्ञानऽऽऽ
इस हेतु मेरी श्रमण दीक्षा....इस हेतु (ही) मेरी धार्मिक शिक्षाऽऽऽ
उक्त लक्ष्य ही परम ध्येय...अन्यथा साधना निष्फल ज्ञेयऽऽऽ(4)
व्यवहार तीर्थादि आराध्य मम...इसी से निश्चय प्राप्य हैऽऽऽ
सुद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि पाकर...बीज यथा बने वृक्ष से फलऽऽऽ
यह मेरा आध्यात्मिक वैभव...भौतिक वैभव से परे वैभवऽऽऽ
अज्ञानी-मोह से अज्ञात सत्य...'कनक' का लक्ष्य स्व-परम सत्यऽऽऽ(5)

मैं ही मेरे हेतु मोक्षमार्ग व मोक्ष

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : कसमें-वादे...क्या मिलिए....)
मैं ही मेरा मोक्षमार्ग हूँ...मैं ही मेरे रत्नत्रयऽऽऽ
मैं ही मेरा मोक्ष रूप हूँ...मेरे बिना मम ये न सम्भवऽऽऽ(ध्रुव)
मम रत्नत्रय मुझमें स्थित...धर्मीमें ही धर्म होने सेऽऽऽ
'गुणपर्याय द्रव्य' होने से...मेरे गुण-पर्याय मुझमेंऽऽऽ
'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुण' से...मेरे आश्रय से मम गुण हैंऽऽऽ
अनादिकाल से मुझमें स्थित...कर्म आवृत्त से सुप्त-गुप्त हैंऽऽऽ(1)
मेरे गुण जब (से) हो रहे जागृत...कर्मों की हो रही क्षीणताऽऽऽ
आत्मश्रद्धान हुआ है प्रगट...तत्वार्थ श्रद्धान सहितऽऽऽ
श्रद्धान हुआ मुझमें मेरा...मैं हूँ सत्य-शिव-सुंदरऽऽऽ
अनन्तगुण सहित हूँ मैं...शुद्ध-बुद्ध व आनन्दऽऽऽ(2)
यह ही मेरा आत्मविश्वास...मैं हूँ तन-मन रहितऽऽऽ
द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित...स्वयंभू-सनातन-अमूर्तऽऽऽ
इससे मुझमें हुआ सुज्ञान...जो है वीतराग विज्ञानऽऽऽ
यह भी मेरा मौलिक गुण...मैं मेरा वीतराग विज्ञानऽऽऽ...(3)
इससे हुई अनासक्ति-निस्पृहता...अनात्मवस्तु प्रति मोह क्षीणताऽऽऽ

समता-शान्ति व आत्म तृप्ति...ख्याति-लाभ-पूजा की विरक्तताऽऽऽ
स्वयं शोध-बोध बढ़ रहा...ध्यान-अध्ययन-मौन भीऽऽऽ
आत्मविशुद्धि से अनुभूति वृद्धि...स्वयं में बढ़ रही स्व-प्रवृत्तिऽऽऽ(4)
संकल्प-विकल्प-संक्लेश-द्वन्द्व...अपना-पराया में राग-द्वेषऽऽऽ
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा परे...स्वयं की उपलब्धि लक्ष्य मेरेऽऽऽ
सुद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पाकर...समस्त विभाव से शून्य होकरऽऽऽ
अनन्त स्वगुणों को मैं प्राप्तकर...बनूँगा शुद्ध-बुद्ध-परमेश्वरऽऽऽ(5)
बीज ही यथा अंकुर से वृक्ष बने...सुद्रव्य-क्षेत्र-कालादि पाकरऽऽऽ
तथाहि 'सोऽहं' से मैं 'अहं' बनूँगा...मोक्षमार्गी से 'कनक' मोक्षेश्वरऽऽऽ(6)

''वन्दे तद्गुणलब्धये हेतु ही पूजा- प्रार्थनादि करूँ

(भक्ति से बनूँ भगवान् न कि भिखारी)
(भगवान् या पूजनीय की पूजादि उनके पूज्य गुणों को स्वयं में प्रगट करने हेतु करूँ)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1.आत्मशक्ति...2. किये मिलिये....)
''वन्दे तद्गुणलब्धये'' हेतु ही करूँ मैं पूज्यों की प्रार्थना।
पूज्य पुरुषों की गुणप्राप्ति हेतु करता हूँ पूज्यों की आराधना।।
पूज्य होते मेरे आदर्श उनका आदर्श अनुकरण करूँ।
प्रज्जवलित दीप के सम्पर्क से जले यथा बुझा हुआ दीपक
अरिहंत-सिद्ध होते विरागी न देते आशीष या अभिशाप।
भौतिक सत्ता-सम्पत्ति रहित होने स न देते भौतिक द्रव्य।।
(साक्षात्) अरिहंत-सिद्ध यदि ये न देते उनकी प्रतिमा क्या देगी?
तथापि उनके गुण-स्मरण-अनुकरण से आत्मशक्ति प्रकट होगी।।
आत्मिक अनन्त (अक्षय) वैभव हेतु वे भी त्यागते राज्य वैभव।
मैं भी स्व-आत्मिक वैभव प्राप्ति हेतु उनका करता हूँ स्तवन।
जीवन्त तीर्थंकर भी स्व-भक्त शिष्यों को न देते धन।
केवल आत्मवैभव प्रकट हेतु करते दिव्य प्रवचन।।

वे कहते हैं मेरे समान ही तुम्हारा वैभव तुम में स्थित।
तुम भी उसे प्रकट करो जैसा मैंने किया प्रगट।।
मेरे समान भी तुम भी प्रकट करो आत्मश्रद्धान ज्ञान चारित्र।
राग द्वेष मोह काम क्रोध नाश जिससे तेरे वैभव होंगे प्रगट।।
यथा बादल के हटने पर सूर्य किरण से छाया नशती।
तथाहि तेरे कर्म नाश से तेरी समस्यायें भी नाश होगी।।
जो ऐसा नहीं करते उनका उद्धार/(उपकार) प्रभु से भी न होता।
यथा मारिचिकुमार अरबों भव तक दुःखों को पाया।।
किन्तु जो श्रद्धा से भगवान् के वचन के अनुसार चले।
वे सभी पापी पशु-मनुष्य -देव स्वर्ग-मोक्ष के सुख पाये।।
मैं भी पूज्यों व मूर्ति की प्रार्थना-वन्दना-स्तुति आराधना करूँ।
स्व-विभावों को नाश करके स्व-वैभव को प्राप्त करूँ।।
किसी भी प्रकार सांसारिक सत्ता-सम्पत्ति नहीं चाहूँ।
ख्याति-पूजा-लाभ प्रसिद्धि सत्कार वर्चस्व नहीं चाहूँ।।
प्रभु की भक्ति से पाप नाश से व सातिशय पुण्य संचय से।
स्वयमेव सांसारिक वैभव मिले किन्तु याचना/(निदान) से होता है मिथ्यात्व
सांसारिक वैभव क्यों चाहूँ क्योंकि मेरा वैभव तो मुझ में स्थित।
मैं भक्ति करूँ भगवान बनने हेतु भिखारी बनना न मेरा लक्ष्य।।
अभी भी मेरी ऐसी भावना(व प्रवृत्ति) से मुझे मिल रही आत्मिक
शान्ति।(प्रगति)।
अनन्त-आत्मिक शान्ति की उपलब्धि हेतु 'कनक' करे प्रभु भक्ति।।